

द्विमासिक

शीराज़ा हिन्दी

५७

वर्ष १७ / अंक २
(जून-जुलाई, १९८१)

★

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ टेंग

★

सम्पादक
रमेश मेहता

★

पत्र व्यवहार :
सम्पादक
शीराज़ा हिन्दी
जे० एण्ड के० अकादमी ऑव आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू। फोन : ५०४०

★

मुद्रक : अमर आर्ट प्रेस, मोती बाज़ार, जम्मू

★

यह अंक : दो रुपये

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

इस अंक के आकर्षण

इस अंक के विशेष लेख

आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास

—चन्द्रकांत बांदिवडेकर

इधर बीस वर्षों में आधुनिकता पर जो बहसें हुई हैं उनसे एक बात साफ हो गई है और वह यह कि आधुनिकता को जन्म देने वाले विभिन्न कारणों के सम्बध में विशेष मतभेद नहीं है लेकिन उसके स्वरूप को आकार देने वाले तत्वों पर बल देने की दृष्टि से काफी मतभेद है। आधुनिक संवेदना, आधुनिक विचार-विधि, आधुनिक-दृष्टि, आधुनिक मनोवृत्ति आधुनिक शील इत्यादि बातों के सम्बंध में विभिन्न धारणाओं की भीड़ के बीच कुछ ऐसी स्थिति हो गई है कि इस विराट-काय हाथी की उपस्थिति को अनुभव तो किया जा रहा है लेकिन पूरी तरह से पकड़ा नहीं जा रहा है। यही नहीं अपने हाथ में आए हिस्से को ही पूरा हाथी समझने के आग्रह में पूर्ववर्तियों या अन्य समकालीनों की समझ पर तरस भी खाया जाता रहा है। कभी यह भी लगता है कि इस हाथी को इधर-उधर से छूने और पकड़ने की प्रक्रिया में इस बात की ओर ध्यान है ही नहीं कि हाथी को पूरी तरह पकड़ने की जिद में हमने अपनी ही गति को अवरुद्ध तो नहीं किया है या यह भी कि कहीं यह हाथी अब बूढ़ा बनकर अनुपयोगी तो नहीं हो गया है? इसको पकड़ कर हम गतिमान हो जाएं तो क्या पिछड़ जाएंगे? प्रस्तुत अभिलेख में आधुनिकता सम्बंधी विभिन्न धारणाओं को अलग से न उठाकर उपन्यास साहित्य की चर्चा में ही समाविष्ट कर लिया गया है।

प्रबंध का सूत्र :

प्रायः समस्त भारतीय साहित्य में आधुनिकता की अवधारणा बाहर से अंदर की ओर मुड़ती हुई सामाजिकता से वैयक्तिकता की ओर और वैयक्तिकता से आत्मकेंद्रितता की ओर संकीर्ण होती गई दिखती है। आरंभ में युग चेतना या परिवेश की चेतना के प्रति सजग और अपनी प्रक्रिया में अधिकाधिक उदार मानवीयता का रूप ग्रहण करने वाली आधुनिक संवेदना अपने ऐतिहासिक क्रम में इतनी स्वकेंद्रित होती गई है कि उस पर अमानवीय तत्त्व हावी हो गए हैं। आधुनिकता शब्द के मोह में उसे विस्तृत अर्थ से संपृक्त करने के बौद्धिक प्रयासों के

बावजूद भी अब यह लगता है कि उसकी उपयोगिता ही समाप्त हो गई है। अतः इस शब्द के स्थान पर या तो किन्हीं दूसरे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो अभिप्राय को अविकृत रूप में व्यक्त कर सकें या अपनी विशिष्ट दृष्टि को बहस के पहले ही परिभाषित कर तब इस संज्ञा का प्रयोग करना चाहिए। चूंकि दूसरा रास्ता केवल शब्द-मोह का परिणाम है, पहला रास्ता ही समीचीन लगता है।

आधुनिकता का पहला दौर और हिन्दी उपन्यास की स्थिति और गति :

आधुनिकता की अवधारणा काल-सापेक्ष है इसमें दो राय नहीं हैं। इसकी तार्किक निष्पत्ति यह है कि हम कालक्रम के अनुसार आधुनिकता के रूपबोध का, विशेषतः साहित्यांतर्गत उसके स्वरूप का, पर्यावलोकन करें तो वह अधिक औचित्यपूर्ण होगा।

ब्रिटिशों की सभ्यता और संस्कृति के संपर्क में आने पर भारतीय बौद्धिक वर्ग में जिस आधुनिक जीवन दृष्टि का नवनिर्माण होने लगा उसमें इस धरती के मनुष्य को केंद्र में रखकर उसके सुख-दुखों की एवं नियति की चिंता करने वाली इहलौकिक दृष्टि अधिक प्रखर हो गई। विशाल और तकनीकी प्रगति के सुखमय विकास के फल चखने वाली मानवी चेतना प्रारंभ में अपूर्व उल्लासमयी और आशावादी थी। और परिणामतः जीवन का चिंतन करते समय वैज्ञानिक प्रणाली में आस्था और बुद्धिवाद को सर्वतोपरि महत्त्व देने लगी तो आश्चर्य नहीं। स्वभावतः परंपराओं के प्रति विद्रोही या आलोचनात्मक दृष्टि, प्रयगोशीलता के प्रति आकर्षण, प्राचीन विधियों और मूल्यों के प्रति संदेह और नकार, नवीनता की खोज, भावुकता का परित्याग और उग्र यथार्थ का सामना करने का बौद्धिक उत्साह—प्रथम महायुद्ध के प्रारंभ तक आधुनिक मानस के ये कुछ महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य रहे। उपर्युक्त विविध दृष्टिओं को समाहित करने वाली "आधुनिक" संज्ञा ने भारतीय साहित्य को लगभग द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभ तक प्रेरित एव प्रभावित किया। हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में भी १९१८ से १९३९ तक यही वैशिष्ट्य प्रभावी रहे।

इस दृष्टि से हिंदी के औपन्यासिक साहित्य में आधुनिकता की प्रखर पहचान देने वाली रचनाएं प्रेमचंद की ही मानी जा सकती हैं। मानवीय जीवन के यथार्थ से असंपृक्त, कल्पना में विचरण करने वाले रंजक साहित्य को मनुष्य की इहलौकिक चिंता से संबद्ध करने वाले तथा कलात्मक उपन्यास लिखने वाले प्रथम सशक्त उपन्यासकार प्रेमचंद ने हिंदी कथा साहित्य को ऐसा मोड़ दिया कि उनके कृतित्व की कलात्मकता के स्तर को लेकर बहस हो सकती है लेकिन उनके ऐतिहासिक कार्य के प्रति मतभेद संभव नहीं है। प्रेमचंद-साहित्य का विचार करते समय यह बात सहज ही ध्यान में आती है कि बीसवीं सदी के आरंभ से लेखन करने वाले इस सर्वसमावेशी व्यक्तित्व पर भारतीय आध्यात्मिक संवेदना का विशेष प्रभाव नहीं है। बंगला के महान साहित्यकार गुरुदेव टैगोर और प्रेमचंद की समकालीन हिंदी छायावादी कवियों की रहस्योन्मुखता के संदर्भ में प्रेमचद की ईश्वर, धर्म, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, जन्म-पुनर्जन्म, कर्मविपाक सिद्धान्त इत्यादि के प्रति उदासीनता या व्यंग्यात्मक दृष्टि उनके आधुनिक बोध की

सहज स्वीकृति को स्पष्ट करती है, ऐसा नहीं कि ये सारी बातें प्रेमचंद के साहित्य में नहीं हैं। "कायाकल्प" के भटकाव को अलग रख दिया जाए, जिसमें जन्म-पुनर्जन्म और कर्मविपाक के संस्कार कलाकार पर हावी हो गए हैं, तो प्रेमचंद ने उपर्युक्त बातों का सामाजिक यथार्थ के अंग के रूप में भौतिकतावादी दृष्टि से विवेचन किया है। एक समय प्रखर आध्यात्मिक संवेदना से परिचालित हमारे भारतीय मानस ने पश्चिमी प्रभाव में आकर इहलौकिक जीवन दृष्टि को सहज ही में कैसे स्वीकार किया, यह प्रश्न मन में सालता रहा। विवेकानंद, अरविंद इत्यादि सांस्कृतिक समन्वय करने वाले विचारकों को एक ओर रखा जाए तो यह बात आश्चर्य उत्पन्न करती रही है कि हमारे कथा साहित्य ने बिना किसी हिचकिचाहट या संवेदनात्मक तनाव और टकराहट के सैक्युलर तत्त्वों को स्वीकार कैसे किया? क्या कथा-साहित्य के मूल में अवस्थित यथार्थोन्मुखता का तत्त्व अधिक प्रभावशाली रहा? कुछ वर्ष पूर्व उठाए गए इस सवाल का जवाब कुछ-कुछ इधर मिला। असल में हमारे कथाकारों ने एक ओर अगर ईश्वर एवं अध्यात्म को सामाजिक-राजनैतिक समस्याओं की पुकार के सामने किनारे रख दिया तो दूसरी ओर बीसवीं सदी के प्रथम चार दशकों तक समाज, जनवाद, राष्ट्रीयता को ईश्वर और अध्यात्म के स्थान पर समासीन किया। जनता में जनार्दन देखने की तथा राष्ट्रीय बलीवेदी पर गिरे खून के कतरों को दुनिया का सबसे अनमोल रत्न मानने की एवं सभी वैयक्तिक और सामाजिक दुःखों की इतिश्री करने की अद्भुत क्षमता समाजवादी देवता में मानने की कथाकारों की प्रवृत्ति ने शायद ईश्वर से विभक्त होने का या अध्यात्म संवेदना से टूट कर बिखर जाने का अपराध बोध नहीं पैदा किया। इसीलिए प्रेमचंद-युगीन कथा साहित्य राष्ट्रवाद और जनवाद के आधार पर मजबूती से खड़ा दिखता है।

प्रेमचंद के निरंतर विकासशील व्यक्तित्व में अपने समय को पहचानने और उसके साथ गतिशील रहने का व्याकुल प्रयास दिखाई देता है जो आधुनिक मानस का महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य आरंभिक दौर में माना जाता रहा है। प्रेमचंद ने अतीत की ओर कभी अपनी दृष्टि दौड़ाई भी तो पुनरुत्थान की आकांक्षा से नहीं, न ऐतिहासिक सत्य के अनुसंधान की जिज्ञासा से। कुछ स्थूल रूप में कहा जा सकता है कि उनमें अतीत का अपने सामयिक जीवन के लिए उपयोग कर लेने की दृष्टि ही प्रबल रही। दूसरे शब्दों में उनके ऐतिहासिक कथा साहित्य में राष्ट्रीय भाव को गौरवान्वित और पुष्ट करने की प्रवृत्ति ही प्रमुख है। प्रेमचंद की नजर बाह्य सामाजिक जीवन के बदलते रूपों पर सतत रही है। जन-जीवन की विभिन्न समस्याओं की चिंता करते समय उन्होंने सुधारवाद, गांधीवाद और समाजवाद की मजिलों को तय करने का प्रयास किया। एक पराधीन समाज के विभिन्न अवरुद्ध रूपों को देखते हुए उन्होंने न केवल ब्रिटिशों की पराई राजसत्ता का प्रतिरोध किया बल्कि भारतीय शोषित, दलित श्रमिक वर्ग और पीड़ित नारी वर्ग की स्वतंत्रता को जकड़ रखने वाली व्यवस्था के विभिन्न पुर्जों पर भी प्रहार किए। मध्यमवर्गीय नारी की विविध सामाजिक समस्याओं के साथ उसकी पीड़ा, सर्वहारा किसान मजदूरों की दर्दनाक स्थितियों के यथार्थ चित्र एवं समाज के सबसे निचले स्तर पर पशुवत् जीवन जीने वालों

का नरक प्रेमचंद ने अपने साहित्य में प्रस्तुत किया। बाह्य जीवन में चल रही राष्ट्रीय चहल-पहल के उदात्त, उज्ज्वल और भावोत्कट चित्रों के अंकन के साथ उसमें उत्पन्न होने वाले भारतीय चरित्र के घृणित दोषों का भी सशक्त संकेत किया। कृषि सभ्यता को सरकारी मात देने वाली उद्योग सभ्यता और गांव की सरल सादी संस्कृति को एवं नैतिक मूल्यों को ध्वस्त करने वाली नागर जीवन की जटिलता को उन्होंने देखा था, उसकी घोर सुखवादी और स्थूल उपयोगितावादी एवं अपनी ही गति में मनुष्य को एक यंत्र बनाने वाली सभ्यता के शैतानी पदचिह्नों की आहट उन्होंने सुनी थी। समस्त मानवीय जीवन के दुखमय स्वरूप का विराट चित्र-फलक प्रेमचंद ने प्रस्तुत किया। इस दुखमय जीवन में ही जिजीविषा से संपन्न क्रियाशील व्यक्तियों का संघर्ष चित्रित कर उन्होने मनुष्य के प्रति अपनी अडिग आस्था का सशक्त परिचय दिया। भारतीय पारिवारिक जीवन के विघटन की प्रक्रिया को उन्होंने दुखी आंखों से देखा और स्वीकार किया। स्त्री-पुरुषों के सम्बंधों में उत्पन्न तनावों के आरंभिक रूपों को उन्होंने पहचाना। एक समाजविज्ञान वेत्ता की आंख से समाज के विघटित होते जाने वाले विभिन्न रूपों को देखते समय भी एक सहृदय कलाकार की सहानुभूति संपन्न आंख से उन्होंने मानवीय नैतिक मूल्यों की नितांत आवश्यकता का भी सतत उद्घोष किया। ऐतिहासिक बोध और सामयिक जीवन की पहचान अगर आधुनिकता का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है तो प्रेमचद हिंदी के महत्त्वपूर्ण आधुनिक उपन्यासकार माने जा सकते हैं।

प्रेमचंद की औपन्यासिक संरचना भी आधुनिकता के संघर्ष के फलस्वरूप अलग हो गई। प्रेमचंद के उपन्यासों का अंत देखा जाए तो पता चलेगा कि यह साहित्यिक अंत दुखमय जीवन का बोध करा कर ही समाप्त होता है। अलग से प्रेमचंद के आदर्शवाद को कुछ गलत ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। समाज की यह अमुक समस्या और उसका यह अमुक समाधान, ऐसा आग्रही प्रतिपादन प्रेमचंद का कभी नहीं रहा। उनके समस्त नायक टूट जाते हैं या मर जाते हैं। "सेवासदन" का आरंभ ही सुमन के पिता के नैतिक और आदर्शवादी शील की परिसमाप्ति में होता है और अंत भी मानसिक विकृति में, सुधारवादी मध्यवर्गीय नेतृत्व निराश हो जाता है। वेश्याव्यवसाय को लेकर नगरपालिका में जो कुछ होता है उसके पीछे प्रेमचंद की प्रखर व्यंग्यात्मक दृष्टि ही कार्यान्वित है, आश्रम में सहारा ढूंढने वाली सुमन भी सदन के व्यवहार से असंतुष्ट है। "गबन" के अंत में जोहरा का आत्मसमर्पण रमानाथ और जालपा की किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता को उजागर कर उनके आत्मकेंद्रित होने पर प्रहार करता है—यह सब सुखांत नहीं कहा जा सकता, ऊपर से सुखान्त भले ही लगे मनुष्य की कमजोरियों को उघाड़ने का प्रेमचंद का प्रयास पुरोगामी सुखमय औपन्यासिक अंत की सदा के लिए इतिश्री कर देता है। प्रेमचंद का आदर्शवाद समस्याओं के अंतिम समाधान के रूप में नहीं आया है। उनके सुधारवादी और गांधीवादी नायक असमर्थ ही रहे। प्रेमचंद के आदर्शवाद को जटिल समस्याओं को हल करने की कलाकार की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में ही समझा जाना चाहिए। एक प्रकार से प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास के सुखमय अंत की समाप्ति कर दी। जीवन के प्रचंड सैलाब में व्यक्ति के रूप में चरित्र का निराशापूर्ण अंत प्रेमचंद के औपन्यासिक साहित्य का प्रमुख सूत्र है।

जीवन और साहित्य के परस्पर सम्बंधों की निकटता से यह खुलापन आया है। प्रेमचंद की चरित्र सृष्टि भी मानवीय जीवन की इस आधुनिक पहचान से परिचालित है कि मनुष्य न पूर्णतः श्वेत होता है न श्याम, न पूर्णतः दुष्ट न पूर्णतः सुष्ट। प्रेमचंद ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असामान्य एवं विकृत चरित्र न लिए हों लेकिन उनकी मानव चरित्र की सहज पहचान उपन्यास पर आधुनिक प्रभाव डालने में समर्थ हुई है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। कथानक से हटकर मानव चरित्र की ओर अभिक्रमण प्रेमचंद की औपन्यासिक यात्रा का स्वरूप रहा है। प्रेमचद की भाषा भी आधुनिकता से सम्पृक्त जनवादी दृष्टि की परिचायक है। व्यावहारिक जीवन और ग्रांथिक भाषा के बीच का अंतराल खत्म करना और जीवन के व्यावहारिक प्रारूपों की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल भाषा को गढ़ना प्रेमचंद के समस्त कथा साहित्य की आंतरिक मांग थी। कथा संरचना और भाषा सभी दृष्टियों से प्रेमचंद ने आधुनिकता का साहित्य में सन्निवेश कर हमारे भावों और विचारों की कक्षाओं को विस्तृत किया और जीवन के प्रति दायित्व का बोध कलात्मक स्तर पर उत्पन्न कर विदा ली। प्रेमचंद के समस्त तंत्र-दोष उनके विराट जीवन चित्रण के सामने क्षुद्र प्रतीत होते हैं।

प्रेमचंद के यथार्थोन्मुख उपन्यास का प्रभाव कहिए या उपन्यास विधा प्राणतत्त्व के यथार्थ की स्वाभाविक मांग कहिए—स्वच्छंदतावादी सौंदर्यप्रेमी जयशंकर प्रसाद भी "कंकाल" में जीवन की अजस्र प्रतिरोधी शक्तियों के सामने व्यक्ति के विघटन की प्रक्रिया को मूर्त करते हैं—सामाजिक जीवन विरोधी शक्तियों का विविधतापूर्ण एवं मूलगामी संकेत वे नहीं कर सके लेकिन व्यक्तित्व को अवरुद्ध करने वाली शक्ति के उद्घाटन में ऊर्जा की प्रतीती अवश्य मिलती है। छायावादी काव्य-दृष्टि को यथार्थवादी उपन्यास की जीवन दृष्टि किस प्रकार प्रभावित कर रही थी "कंकाल" इसका प्रतीक है और बाद के साहित्य के इतिहास में यही घटित हुआ है।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि प्रेमचंद के सामने पाश्चात्य आधुनिक साहित्य के जो आदर्श थे वे उनके समय से चालीस पचास वर्ष पुराने थे।

आधुनिकता का दूसरा दौर : परिवेश और जीवन-दृष्टि के बीच तनाव

यहां हिंदी उपन्यास का इतिहास प्रस्तुत नहीं करना है···आधुनिक दृष्टि या संवेदना की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य संकेतित करने वाले उपन्यासकारों और उपन्यासों की चर्चा करनी है।

हिंदी उपन्यास साहित्य में आधुनिकता का दूसरा दौर जैनेंद्रकुमार और स. ही. वात्स्यायन के आगमन से माना जा सकता है। १९३५ के आगे पीछे मार्क्स और फ्रायड का प्रभाव भारतीय साहित्य पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्रेमचंद के "गोदान" पर मार्क्स का प्रभाव स्पष्ट है। स्त्री पुरुष सम्बंधों पर भी प्रेमचंद नई दृष्टि से विचार करने लगे थे। विवाहित गोविंदी को गृहस्थी जीवन का महत्त्व समझाने वाले मेहता को मालती विवाहनिरपेक्ष प्रणय का महत्त्व समझाती है। यहां से हिंदी साहित्य में एक धारा समाजवादी विचारों के प्रति प्रतिबद्ध होकर प्रवाहित हुई, इसी से संबद्ध एक और प्रवृत्ति थी—सामाजिक यथार्थवाद

की। यशपाल, नागार्जुन, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त प्रतिबद्ध समाजवादी उपन्यासकार थे, तो भगवतीचरण वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर इत्यादि उपन्यासकारों को सामाजिक यथार्थवादी कहा जा सकता है। "आधुनिक" शब्द के प्रति कुछ ऐसा मोहाविष्ट लगाव पैदा हो गया है तथा इस शब्द में कुछ ऐसी समावेशकता और लचीलापन भी है कि कुछ चिंतकों ने आधुनिकता को लगभग मार्क्सवादी विचारधारा या सौंदर्यशास्त्र का पर्याय ही मानकर विवेचन किया है। यह भी सही है कि आधुनिकता इतना बहुआयामी और संदिग्ध (*Ambiguous*) शब्द है कि इसको नकारा भी नहीं जा सकता। मेरी अपनी दृष्टि में स्व-चेतना का निरंतर गहराता प्रभाव या इस स्व-चेतना के स्वरूप को जानने की व्याकुलता आधुनिकता का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है, जो मूलभूत है। यही इसे समाजवादी यथार्थवाद या सामाजिक यथार्थवाद से अलग करता है। काव्यविधा के अंतर्गत जो विभिन्न संप्रदाय आधुनिकता के रूप में चर्चित हैं उनको देखा जाए तो यह स्पष्ट होगा कि चिति (*Psyche*) की प्रबलता या आभ्यंतर की ओर प्रयाण को ही आधुनिकता की पहचान माना गया है। मेरी दृष्टि में आधुनिकता साहित्य के परीक्षण का मूल्यवाचक शब्द नहीं है। वह जीवनानुभव के विशिष्ट स्वरूप की पहचान के लिए एक सुविधाजनक शब्द है। अतः यह न समझा जाए कि प्रगतिवादी या सामाजिक यथार्थवाद के अंतर्गत जो औपन्यासिक रचनाएं आती हैं उनकी महत्ता और मूल्यवत्ता को यहां नकारा जा रहा है। चिति का निरंतर स्वायत्त होते जाना अगर आधुनिकता की प्रक्रिया का प्रमुख लक्षण माना जाए तो आधुनिकता के दूसरे दौर में मानवी मन से अधिक संबद्ध रचनाकारों की ही विशेष चर्चा करनी होगी। इस संदर्भ में जैनेंद्र, वात्स्यायन और इलाचंद्र जोशी पर विचार करना आवश्यक है।

प्रेमचंद के युग तक बाह्य वास्तविकता और मनुष्य की आंतरिकता का कुछ समन्वित और संवादी रूप मिलता था। बाह्य यथार्थ से संघर्ष करने वाले प्रेमचंद के नायकों के वास्तविकता को बदलने के इरादे उन्हें सक्रिय और बहिर्मुख रखते हैं। बाह्य वास्तविकता या यथार्थ के प्रकट एवं प्रच्छन्न स्रोतों की पहचान से कहिए अथवा यथार्थ के उग्रतर होते जाने वाले स्वरूप की प्रतिक्रिया कहिए हिंदी उपन्यासकारों का एक दल बाह्य वास्तविकता को साहित्य के माध्यम से परिवर्तित कर सकने का रोमानी मोह पालने लगा। उनके लिए चिति एक महत्त्वपूर्ण संसार बना लेकिन यह समझना भूल होगी कि यह संसार सुखमय और विलासमय था। उसकी गहराई में डूबने में त्रास था, कष्ट था, पीड़ा थी। जैनेंद्र में यह पीड़ा विलक्षण प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त हुई है। सुनीता, कल्याणी, त्यागपत्र की मृणाल—सभी नायिकाओं में यह वेदना उत्कट रूप में व्यक्त हुई है। असल में जैनेंद्र के उपन्यासों का नारी प्रधान होना विशेष महत्त्वपूर्ण है। आधुनिकता के आरंभिक दौर में ही नारी जागरण का एक आयाम जुड़ जाता है। भारतीय सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक परिवेश में नारी एक शोषित घटक है। इसका भान आधुनिक संवेदना ने ही करा दिया। एक ओर अर्धनारी नटेश्वर की परिकल्पना में नारी की महत्ता की स्वीकृति और दूसरी ओर आर्थिक व लैंगिक शोषण की परिसीमा हमारे सांस्कृतिक दोगलेपन को प्रकट करती है। विवाह, स्त्री-पुरुष सम्बंधों का स्वरूप, प्रेम, यौनवासना

का जीवन में स्थान इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातों को जैनेंद्र ने उठाया। उनके नारी चरित्रों में जो अपार पीड़ा है वह संवेदनशील मानस को झकझोरती है। "समाज में विकास ताप से नहीं तप से होगा, कष्ट देने से नहीं, स्वेच्छा से कष्ट सह लेने से होगा" इत्यादि जैनेंद्र जी की मान्यताओं को स्वीकार करना कठिन है। लेकिन सामाजिक व्यवस्था के मूल में जो नैतिक धारणाएं हैं, उन्हें चुनौती देने का महत्त्वपूर्ण कार्य जैनेंद्र ने किया इसमें संदेह नहीं। मनुष्य के बाह्य कार्यव्यापार वा व्यवहार के मूल में स्थित सिद्धान्त प्रेम या बौद्धिक अवधारणा के प्रति उन्होंने व्यंग्यात्मक रुख अख्तियार किया और उसमें अवस्थित "अहं", "सेक्स" इत्यादि की ओर सबल संकेत किया। मनुष्य के बुद्धिवादी होने के दंभ पर चोट करते हुए उसकी चिति में अवस्थित गहन गूढ़ प्रेरणाओं को भी उजागर किया। "विचारक रूप मुझे संदेह है कि शुद्ध हो सकता है। विचार रूप में वह सत् कैसे आए जो चित् भी है। आनंद में सत्-चित् एक साथ प्रकट होते हैं। सत्य का शुद्ध रूप सच्चिदानंद का प्रकाश जीवन से भले मिल सकता है। विचार में तो पूरा मिल नहीं सकता है। क्या आप विश्वास करेंगे कि जिसका मैं सबसे अधिक अविश्वास करता हूं वह विचार और विचारक है।" (पृ० ११८ : साहित्यिक साक्षात्कार) असल में जैनेंद्र की इस दुश्मनी का नए साहित्यकारों ने खूब मजाक उड़ाया। यह भूल कर कि इसके मूल में आंशिक रूप में विज्ञानवेत्ताओं का भी समर्थन है। क्योंकि इधर वैज्ञानिक खोजों ने तर्क एवं बुद्धिवाद की सीमाओं का संकेत करते हुए जीवन और जगत् में अनिश्चित और आकस्मिकता का भी महत्त्व स्वीकार किया है। वैज्ञानिक उपलब्धियों में तर्क प्रणाली से अन्तर्दृष्टि और अंतःप्रेरणा (*Insight and Intuition*) का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता अतः जैनेंद्र का बुद्धि विरोध आधुनिकता के विरोध में न पड़कर समग्रता को अपने स्वरूप में देखने के प्रयास का एक यत्न माना जाना चाहिए। असल में आधुनिकता की अवधारणा में चिति के केंद्र में आने की जो प्रक्रिया हुई है उसका समर्थ बोध जैनेंद्र-साहित्य में विशेष तथा सशक्त रूप में मिलता है।

स. ही. वात्स्यायन ने १९४१ में प्रकाशित अपनी रचना "शेखर : एक जीवनी" के प्रथम भाग में किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से चिति से सम्बंधित प्रश्न न उठाकर अधिक मूलभूत प्रश्न उठाए। इसका आत्मकथात्मक विधान और आत्मकथात्मक होते हुए भी बीच बीच में "मैं" से तटस्थ होने का प्रयास विगत अनुभव को तीव्रता में संप्रेषित करने के सहायक साधन के रूप में नहीं निर्मित हुआ है। वह अधिक आंतरिक मांग है "मैं कौन हूं ?", "मेरे अनुभव का रूप क्या है ?", "मेरे व्यक्तित्व की बुनावट में किन सहज प्रवृत्तियों का कितने अंशों में अनुवंशिक धरोहर का, किन व्यक्तियों के संपर्क का और घटनाओं का कितना और कैसा प्रभाव है और यह सारा सैलाव किस परिणति पर ले जाता है, उस परिणति में आकस्मिकता का कितना हाथ है, उसमें मेरा असली "स्वत्व" क्या है ? —इन प्रश्नों की व्याकुल जिज्ञासा शेखर की बनावट और बुनावट का मूल आधार है—यह स्वत्व की खोज है और एक प्रकार से स्वतंत्रता की खोज है। इस महत्त्वपूर्ण रचना ने हिंदी उपन्यास साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है—वह है काल सम्बंधी चेतना का। यह शायद बहस तलब बात नहीं है कि काल सम्बंधी हमारे चिंतन

को आधुनिकता ने विलक्षण रूप में झकझोरा है। शायद हिंदी का यह पहला उपन्यास है जो अत्यंत सजगतापूर्वक काल की क्रमिक और परंपरागत धारणाओं को चुनौती देकर मानवीय अनुभव की सापेक्षता में काल की परिकल्पना करता है। मेरा अभिप्राय केवल पूर्वदीप्ति प्रणाली में लिखे संवेग प्रधान उपन्यासों की काल कल्पना से नहीं है। फांसी की सजा पाए एक युवक का एक रात में देखा 'विजन' यहां शब्दबद्ध हुआ है—कुल जीवनानुभव की ओर देखने की यह समूची दृष्टि ही नूतन है। "नदी के द्वीप" और "अपने अपने अजनबी" में (जिसकी चर्चा बाद में करेंगे।) एक महत्त्वपूर्ण समान बिंदु यह है कि ये दोनों उपन्यास परिस्थिति और मानवीय मूल्यदृष्टि के द्वन्द्वात्मक रूप को एवं तनाव को शक्तिपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। "नदी के द्वीप" में यह द्वन्द्व जड़ीभूत हुई नैतिक अवधारणाओं, क्रूड सेक्स और अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने वाले व्यक्तित्वों के बीच है। "नदी के द्वीप" में नारी की अपनी अस्मिता और स्वतंत्रता का जो उन्मेष हुआ है वह "शेष प्रश्न" की कमल के बाद का और अधिक ठोस भी है। नारी जागरण का जो विकास आधुनिक साहित्य में उन्नीसवीं सदी के अंत में भारतीय साहित्य में प्रारंभ हुआ, उसका स्वस्थ चरमरूप "नदी के द्वीप" में प्राप्त होता है। प्रेमचंद पाश्चात्य साहित्य के परिप्रेक्ष्य में चालीस पचास वर्ष पीछे थे लेकिन अज्ञेय ने हिंदी को आधुनिकता के संदर्भ में अपने समकालीन पश्चिमी लेखकों के समकक्ष ला बिठाया, यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है। "नदी के द्वीप" में अगर काम को अतिक्रान्त करने की मानवीय मूल्यदृष्टि है तो "अपने अपने अजनबी" में मृत्यु विषयक भय को। जैनेंद्र और अज्ञेय के उपन्यास साहित्य का महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य यह है कि उनमें जीवन दृष्टियों, जीवनमूल्यों और परिवेश के तनावपूर्ण सम्बंधों का बड़ा ही जीवन्त नाट्य विलक्षण कलात्मक ढंग से व्यक्त होता है। आभ्यंतर की ओर मुड़े ये साहित्यकार परिवेश की जड़ता के विरोध में कुछ मूल्यों के आधार पर मजबूती से खड़े हैं। यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं कि मूल्य दृष्टि के मूल में परिवेश की गहरी समझ अपेक्षित है। यहां पर एक बात कहने की आवश्यकता है—बहुत बार बाह्य परिवेश का चित्रण केवल दर्पणरूप होता है और उसी को उपन्यास का यथार्थ मानने की भूल होती है। इधर के बृहदाकार औपन्यासिक साहित्य में यह बात ध्यान में नहीं रखी जाती कि सामाजिकों और लेखकों के बीच जो क्षेत्र सामान्य रूप से समान है उसी का महज ब्यौरेवार चित्रण करने से यह यथार्थ "सिग्निफिकंट" नहीं होता। असल में गोचर यथार्थ के प्रति गहरी व्यंग्यात्मक दृष्टि जो "रागदरबारी" में आंशिक रूप में परिलक्षित हुई है या उसके पीछे छिपे मानवीय मानस की जटिलता का साक्षात्कार ही वह वस्तु है जो यथार्थ को साहित्यिक स्वर प्रदान करती है। यथार्थ का दर्पणरूप प्रयोग और उसके सृजनात्मक रूप के अंतर को ध्यान में रखा जाएगा तो कतिपय उपन्यासों का आकार सीमित होकर सार्थकता की मात्रा बढ़ सकती है। बहुत से उपन्यास अपने समय को अतिक्रान्त नहीं कर पाते और उनकी अपील खत्म हो जाती है। इसका कारण यथार्थ के सृजनात्मक उपयोग के प्रति अज्ञान है। इधर आंचलिक उपन्यासों में आई बाढ़ को देखते समय यह विचार अधिक प्रासंगिक जान पड़ता है। "मैला आंचल" का यथार्थ जिस सृजनात्मक स्तर पर खड़ा है, उस सीमा को कितने उपन्यास छू सकते हैं? एक

बार आंचलिक उपन्यासों का क्षेत्र परिचित हो जाए तो औपन्यासिक भूगोल-देश की रुचि खत्म हो जाती है। सामाजिक यथार्थ और उसके सृजनात्मक उपयोजन का मुद्दा आधुनिक साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है।

मनोवैज्ञानिक प्रभाव और उसका सृजनशील उपयोजन :

यहीं पर हिंदी उपन्यास पर पड़े मनोवैज्ञानिक प्रभाव का किंचित जिक्र आवश्यक है। यह गौरव की बात है कि हिंदी उपन्यासकार वैश्विक साहित्य से प्रभाव ग्रहण करने में पीछे नहीं हैं—अस्तित्ववाद के प्रभाव तक यह बात कही जा सकती है और यह मैं व्यंग्य से नहीं कह रहा हूं। मनोविज्ञान की प्रणालियों के अध्ययन का कुछ स्थूल प्रभाव इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों पर पड़ा। इस बात का श्रेय उन्हें देना चाहिए कि मनोविज्ञान और उपन्यास साहित्य के परस्पर सम्बंधों के अध्ययन की आवश्यकता के प्रति सजग करने का प्रयास उन्होंने किया। इलाचंद्र जोशी के साहित्य के मनोवैज्ञानिक केस हिस्ट्री होने के मूल में कारण है उनका इससे संबद्ध अन्य बातों के प्रति सजग न होना। इलाचंद्र जी ने यह नहीं समझा कि उनके कथा बताने के मोह से एवं नैतिकता की सीधी धारणाओं से मनोवैज्ञानिक अध्ययन का परस्पर विरोधी सम्बंध है। औपन्यासिक काल को लेकर चिंतन करने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी, संवेदनाओं के अणुओं की विस्फोटमय अभिव्यक्ति और क्रमिक ढंग से चलने वाले वर्णनात्मक वृत्तकथन के बीच का अंतर उन्होंने नहीं देखा, अनुभव के सैलाब का उद्वेलन और बहाव और शब्दों का उच्चारण और वाक्यों की क्रमिक गति तथा वाक्यों से बनने वाले पैराग्राफों के रेखात्मक कालक्रम में बुनियादी अन्तर्विरोध है। इसकी ओर उनका ध्यान नहीं गया। यह सही है कि इस अन्तर्विरोध को पूर्णत: तिरोहित करना वाचिक कला को संभव नहीं है फिर भी इसका भान लेखक के संप्रेषण विषयक तकनीक में या अनुभव के प्रति एप्रोच में बदलाव पैदा करता है। इलाचंद्र जोशी के विचारों ने मनोविज्ञान की अधुनातन प्रवृत्तियों को ग्रहण किया परन्तु उनकी संवेदना कथावाचक की ही रही। यह विभाजन कतिपय आधुनिक साहित्यकारों में है लेकिन उसकी चर्चा अन्य लेख की मांग करती है। परिणामत: उनका मनोविज्ञान जानकारी के स्तर पर प्रस्तुत हुआ—सृजनात्मक मांग को पूर्ण नहीं कर पाया। मनोविज्ञान का प्रभाव मानवी मन की या चिति की गहन पहचान और मानवीय सम्बंधों के सही आकलन में सहायक होता है लेकिन इस गहन पहचान को सृजनात्मक व्यापार में ढालने की कलाकार की अपनी युक्तियां होती हैं। जैनेंद्र और अज्ञेय ने सहज या प्रयत्नपूर्वक अपनी रचनाओं में मनोविज्ञान की गहरी समझ का परिचय दिया है।

अनुभव की समृद्धि के लिए सृजनात्मकता की स्वायत्तता को सुरक्षित रखकर साहित्येत्तर ज्ञान का उपयोग करना सच्चे कलाकार का काम है। बहुत बार उसे भूलने पर रचना या तो मनोविज्ञान या समाजशास्त्र का दोय्यम दर्जे का साधन बन जाती है। इधर बीस-पच्चीस वर्षों में जो महत्त्वपूर्ण कथा साहित्य हिंदी में प्रकाशित हुआ है उसमें मन की जटिल बनावट को केंद्र में रखा गया है। एक प्रकार से मनोविज्ञान साहित्यानुभव में द्रवीभूत हो गया है। सामाजिक

यथार्थवादी या समाजवादी यथार्थवादी लेखन ने भी इसका महत्त्व समझा है। "झूठा सच", "बूंद और समुद्र", "कब तक पुकारूं ?", "भूले-बिसरे चित्र", "यह पथ बंधु था", "एक नन्ही कंदील", "मुट्ठी भर कांकर", "लाल पीली जमीन", "यह भी नहीं", "सफेद मेमने", "उखड़े हुए लोग", "अलग अलग वैतरणी", "जुगलबंदी", "आपका बंटी", "सर्वनाम", "बेघर"—यह सूची और भी बढ़ाई जा सकती है···मनुष्य मन की जटिल मानसिकता को सशक्त रूप से इन उपन्यासों में आकार मिला है।

मनोविज्ञान के प्रभाव से घटनाओं और चरित्रों की बुनावट में संमिश्रता और प्रस्तुतीकरण की अनेक विधियों का समावेश हिंदी उपन्यास में हुआ है। उससे भी महत्त्वपूर्ण काम यह हुआ कि बने बनाए कथा एवं चरित्रों के फार्मूलों पर उपन्यास लिखने की परंपरा मिट गई। परिणामतः उपन्यासकारों की वस्तु के प्रति एप्रोच में संदिग्धता, व्यामिश्रता, अनेकांगिता आई। चरित्र का पूर्व निर्धारित रूप खत्म हुआ—आधुनिक हिंदी उपन्यास में चरित्र को अपने विश्व में छोड़ दिया जाता है ताकि वह अपनी मंजिल खुद तय कर ले और उपन्यासकार अपनी ओर से कोई अंतिम खंभा या आधार देना नहीं चाहता। मानो न खत्म होने वाली कहानी का बीच का हिस्सा ही हमारे सामने आता है। बीच में अवचेतन मन के प्रवाह के अंकन का यांत्रिक प्रयास भी हुआ जो सफल नहीं हो पाया। संभवतः हमारे समाज में अभी वह स्थितियां पैदा नहीं हुई हैं कि वर्षों तक लेखक ऐसा बृहत् प्रोजेक्ट लेकर अपनी जीविका चलाने में सफल हो सके। न हमारे एलिट वर्ग में पेशन्स ही है। असल में जेम्स जॉयस जैसा उपन्यासकार पैदा ही होना चाहिए—सामाजिक-आर्थिक कारण उसे उत्पन्न नहीं कर सकते। योरुप में भी दूसरा जॉयस कहां हुआ? एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि हमारे सामाजिक विधान में *Outlets* हैं कि चिति की असंतुलित अवस्था को या विप्लवन को अनुभव करने की स्थिति से हम सुरक्षित रहते हैं। अंततोगत्वा यह आंतरिक यथार्थ भी अपने आप में कहां तक प्रयोजनीय है? यह साहित्य में तभी सार्थक है जब रचना के अनुभव को गहनता दे।

मनोविज्ञान के प्रभाव से आधुनिक उपन्यास के नैतिक आयाम उदार बन गए हैं। सेक्स के प्रति वह भय या झिझक अब नहीं रही। हमारी लेखिकाएं भी इस क्षेत्र में अद्भुत साहस का परिचय दे रही हैं। ममता कालिया का "बेघर", कृष्णा सोबती का "मित्रो मरजानी" या "सूरजमुखी अंधेरे के" तो अपने स्थान पर हैं ही, इधर मृदुला गर्ग के "चित्तकोबरा" ने भी तूफान खड़ा किया है। समझदार समीक्षा में चर्चा का मुद्दा यह नहीं है कि सेक्स का खुला चित्रण अनैतिकता को बढ़ावा देता है बल्कि यह है कि वह कहां तक मानवीय अनुभव की मांग बनकर आया है और कहां तक दैहिक उत्तेजना को अतिक्रान्त कर मानस की गहन पर्तें उघाड़ता है? कहां तक जीवन के प्रश्नों से जुड़ा है, कहां तक सार्थक है? सेक्स टेबू को हटाकर रचनारत लेखन निश्चय ही अनुभव के नए छोरों को छू सकेगा। शायद यह सेक्स के प्रति तूफान कुछ दिनों के बाद उत्तेजना के क्षीण होने पर नए जीवनार्थों की खोज में प्रवृत्त होगा।

अतीत का आधुनिकीकरण :

परंपरा के प्रति संदेह, निषेध और विद्रोह आधुनिक साहित्य का एक प्रमुख स्वर है। लेकिन नकार की यह प्रतिक्रिया वर्तमान जीवन की पीड़ा से उत्पन्न तात्कालिक प्रतिक्रिया भी है और परंपरा को गहराई से समझने का प्रयास भी किया जाता है। ऐतिहासिक रचनाओं में परंपरा को समझने का प्रयास जिम्मेदार लेखक करता है। ऐतिहासिकता की ओर उन्मुखता कभी पुनरुत्थानवाद में प्रकट होती है और कभी अतीत की घटनाओं, चरित्रों के प्रति सहज कुतूहल के रूप में भी। अधिक गंभीर स्तर पर अतीतोन्मुखी कृति अतीत के समाज को गहराई से समझ कर वर्तमान से संपृक्त करने की आकांक्षा से भी प्रवृत्त होती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का कार्य इस कोटि का है। कभी इतिहास या मिथकों का आधुनिकीकरण भी किया जाता है। हिंदी साहित्य में इधर ऐतिहासिक या मिथकीय घटनाओं एवं चरित्रों की हमारे संस्कारों पर जो कौतूहलपूर्ण अतिनाटकीय चमत्कृतियुक्त आश्चर्यमिश्रित छाप है उसका बौद्धिकीकरण (*Rationalization*) किया जा रहा है। बुद्धि और तर्क के हथियारों से उस मिथकीय प्रभाव को खत्म कर बुद्धि संगत बनाने में नरेंद्र कोहली का रामायण के पुनर्लेखन का प्रयास उल्लेखनीय है। इस प्रकार के मिथकों के आधुनिकीकरण से आखिर क्या बनता है यह एक प्रश्न है।

आधुनिकता का तीसरा मोड़ : आधुनिकता का संकट

१९६० के आसपास हम आधुनिक संवेदना के तीसरे मोड़ पर आते हैं। दूसरे मोड़ में हमने देखा कि उपन्यास के आंतरिक प्रयाण के फलस्वरूप उपन्यास में मानवीय मानस को गहराइयां आईं और उसकी यातना का सशक्त संकेत किया। लेकिन इस समय जीवन के प्रति गहरी आस्था थी, मानवीय मूल्यों के टूटने पर खेद था और नए मूल्यों को गढ़ने का सचेत प्रयास था, मूल्यों के लिए जीवन को उत्सर्ग करने की आकांक्षा थी, मनुष्य के वैयक्तिक जीवन से मूल्यात्मक आदर्श अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह श्रद्धा थी। तीसरे दौर में मानवीय अस्तित्व के सामने मानवीय मूल्यों की करारी हार और कुल मूल्यों की प्राथमिकता के सम्बंध में संदेह दृष्टि प्रबल हो गई है। न केवल मूल्यों के प्रति प्रश्नाकुलता है, कुल मूल्य दृष्टि के प्रति ही एक निषेध व नकार का भाव प्रगाढ़ होता जा रहा है। जीवन यातनामय है फिर भी जीने योग्य है यह भाव दूसरे दौर में जीवित था। तीसरे दौर में जीवन के प्रति निरर्थकता मूल्यहीनता और असंगतिपूर्ण होने का भाव अधिक गहराता जा रहा है। आधुनिक संवेदना अंतर्मुखी होकर इतनी व्यक्तिपरक हो गई है कि अपने ही जहर से मरने वाले सांप की तरह यह चेतना संकट में पड़ गई है।

नागरीकरण के बढ़ते रूप ने बुद्धिजीवी वर्ग को नागर जीवन की आपाधापी और चुस्ती का कुछ ऐसा आदी बना दिया है कि अपने जन्म-गांव के प्रति या अंचल के प्रति उसमें अब मोह नहीं रहा। प्रकृति से उसका सम्बन्ध इस कदर टूट गया है कि वह अब गांव की ओर फटकना नहीं चाहता। इधर प्रकाशित रचनाओं में यह देखा जा सकता है कि हिंदी लेखक गांव की ओर मुड़ता है तो गांव के लोगों की संस्कारहीनता, बर्बरता और क्रूरता का ही निर्मम

चित्रण करता है। "काला जल" या "आधा गांव" में फिर भी थोड़ा गांव की मिट्टी के प्रति मोह है, "अलग अलग वैतरणी" में भी कुछ शेष है लेकिन "राग दरबारी" और "लाल पीली ज़मीन" में तो जरा भी शेष नहीं है। कतिपय उपन्यास तथाकथित भारतीय संस्कृति में पल रहे गांवों और कस्बों की भयावह हिंस्रता का बोध करा रहे हैं। यह स्पष्ट करते हैं कि गांवों में अब कोई संभावना शेष नहीं रही। अंचल विशेष के बारे में लिखने वाला संवेदनशील लेखक भी आज रमणीय प्रकृति की अपेक्षा या सादे भोले ग्रामीण जीवन की अपेक्षा वहां के मनुष्य का पशुवत् जीवन चित्र प्रस्तुत करने के लिए ही विवश है। औद्योगीकरण के बढ़ते चरण मनुष्य और प्रकृति का सम्बंध निःशेष कर रहे हैं। यह एक सांस्कृतिक मृत्यु-घटा है।

आधुनिकता के तीसरे दौर को औपन्यासिक साक्ष्य पर परखना हो तो स. ही. वात्स्यायन की "अपने अपने अजनबी" और मोहन राकेश की रचना "न आने वाला कल" को आमने-सामने रखकर देखा जा सकता है। दोनों के बीच संवेदना, जीवन दृष्टि और औपन्यासिक रचनाविधान का अंतर स्पष्ट हो जाएगा। दोनों की प्रेरणा में अस्तित्ववादी जीवन दृष्टियां और मानवीय स्थिति का ट्रेजिक बोध है। दोनों पर मृत्युबोध की फैली कृष्ण छायाओं का ठंडा हॉरर है। परन्तु "अपने अपने अजनबी" तथाकथित अस्तित्ववादी दृष्टि के प्रति विरोध भाव से चुनौती की मुद्रा में खड़ा है तो "न आने वाला कल" अस्तित्ववादी मनोविज्ञान के प्रति लगभग समर्पित है। "अपने अपने अजनबी" में मृत्यु को सहज स्वीकार कर जीवन को सार्थकता देने और उल्लासपूर्ण जीवन जी लेने के विकल्प का वरण है; "न आने वाला कल" में दिशाहीन भटकाव में परिणति है। एक में आसन्न मरण के संकट की स्थिति में आई दुनिया को बर्फ के नीचे दबे घर के रूप में प्रतीकित किया गया है, दूसरे में मृत्यु बाहर तो नहीं ही है, वह अंदर घुस गई है और व्यक्ति का जीवन ही कुरेद रही है। "अपने अपने अजनबी" में कैंसर बुढ़ापे से ग्रस्त सेलमा युवा जीवन के स्वास्थ्य और सौंदर्य के प्रति वांछा रखकर भी अंदर से परितृप्त है क्योंकि कभी उसने जीवन के सार्थक क्षणों को भोगा है या कहिए मृत्यु की गोद में भी जीवन को सार्थकता से जीने की कला का अभ्यास उसने किया है। "न आने वाला कल" का नायक मृत्यु को अपने फेफड़े में पालने की विवशता में निष्क्रिय, निष्प्रेम और बांझ जीवन को ढो रहा है। सेलमा अकेलेपन के कवच को भेद कर दूसरों से जुड़ने के प्रयास में जीवन की अर्थवत्ता की खोज करती है तो "न आने वाला कल" का नायक दूसरों से कटकर, खुद अपनी पहचान खोकर जिंदगी के बासी सेब को कुतर रहा है—यह तुलना अधिक व्यापक रूप में की जा सकती है। दोनों हिंदी के सशक्त उपन्यास हैं। आधुनिकता के इस तीसरे दौर में लगता है लेखक की "बहुरूपियापन" की सृजनात्मक क्षमता के भी खत्म होने का डर पैदा हुआ है, क्योंकि अधिकतर लेखन आत्मकेंद्रित हो रहा है। आश्चर्य यह है कि एक ओर आत्म की पहचान खो गई है और दूसरी ओर लेखन आत्मकेंद्रित होता जा रहा है—एक तरह से यह मरते की जिजीविषा है।

इस तीसरे दौर में अस्तित्ववादी जीवन दृष्टियों का और उससे सम्बद्ध शब्दावली का प्रभाव हिंदी के समस्त साहित्य पर पड़ा है। यह कहना मुश्किल नहीं है कि यह प्रभाव किन

लेखकों पर आयातित रूप में पड़ा है और किन लेखकों ने परिवेश की टकराहट से अपने अस्तित्व-बोध के रूप में इसे अर्जित किया है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि आज भारतीय बौद्धिक जिन स्थितियों में जी रहा है वे एक संवेदनशील ग्रौर ईमानदार व्यक्ति के लिए बहुत स्वास्थ्यजनक नहीं हैं। इन स्थितियों के अलावा कुछ चिन्तनशील लेखक जीवन की अर्थवत्ता के बारे में ही प्रश्न उठा रहे हैं जिसका एक प्रातिनिधिक ग्राफ मोहन राकेश के उपन्यासों में मिल सकता है। "ग्रंधेरे बंद कमरे" में मानवीय सम्बंधों की तलाश के मध्य हाथ में ग्राया "ग्रंधेरा"; दूसरे के अस्तित्व के एहसास का बोझ और उससे संपर्क की मजबूरी के बीच की कशमकश। फिर भी वहां वासना की राहत थी। परन्तु "न आने वाले कल" में व्यक्ति उस राहत के बाद भी एक प्रकार के अपराधबोध से पीड़ित होने लगा, अहं के टूट जाने के पराजित भाव से नपुंसक प्रतिहिंसा से फूत्कार करने लगा। पारिवारिक जीवन के टूटने की खबर "आपका बंटी", "बेघर", "यह भी नहीं" जैसे उपन्यास दे चुके हैं। गृहस्थ धर्म की सुखानुभूतियों को व्यक्त करने वाले अच्छे उपन्यासों को अब हिंदी में दूरबीन से देखना पड़ेगा। अपनी ट्रेजिक स्थिति के लिए जिम्मेदार राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थितियों के बीच अपनी फालतू और फूहड़ अवस्था का भान मनुष्य पहले ही कर चुका है; वह यह भी जान गया है कि वह संघर्ष के लिए नहीं बल्कि होने की नियति के लिए बिछाई चूहेदानी में फंस गया है। हिंदी उपन्यासकारों ने इस चूहेदानी के राजनैतिक सामाजिक व आर्थिक या कुल व्यवस्था की जड़ों पर या सींकचों पर मुंह मारने का कार्य किया है। इस बोध के साथ कि वह सारी यात्रा निराशा, हार, टूटन से युक्त है। इस संदर्भ में बदीउज्जमां का "एक चूहे की मौत" या "छटा तंत्र", गिरिराज किशोर का "इंद्र सुने" या श्रीलाल शुक्ल के "रागदरबारी" जैसे उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इस व्यवस्था को सामूहिक विद्रोह ग्रौर क्रांति से उखाड़ फेंकने की आकांक्षा से भी कुछ उपन्यास लिखे गए हैं और कुछ नक्सलवादियों के प्रयासों के प्रति सहानुभूति के भाव से प्रेरित होकर भी लिखे गए हैं।

सामयिक हिंदी उपन्यास संसार का आदमी आज दुखी है, त्रास और कष्ट से पीड़ित है, वह जीवन से ऊब गया है। अपनी अकिंचनता एवं अशक्ति का बोध भी उसे हो गया है। इस हार में परिणत होने वाली लड़ाई में उसे कहीं ठौर नहीं नजर आता। आध्यात्मिक पक्षाघात का वह कभी का शिकार हो चुका है। आने वाली दुनिया के बच्चों के प्रति भी वह चिंतित है क्योंकि अपने उखड़ जाने और गृहस्थी के टूटने के कारण वह बच्चों को असुरक्षित रास्तों पर भटकने के लिए छोड़े दे रहा है—बंटी और टोनी जैसे कतिपय बालक अपनी सहज ज़िंदगी नहीं जी रहे हैं। ऐसी स्थिति में सेक्स को राहत के रूप में अपनाया गया था। राजकमल चौधरी के उपन्यासों में उसका बड़ा भोंडा चित्रांकन है, तो सेक्स में निहित स्पर्धा भाव, अहं को तोड़ने और टूटने की यातना और हिंसा का अधिक कलात्मक ढंग से ग्रंकन श्रीकांत वर्मा के "दूसरी बार" में किया गया है। कृष्ण बलदेव वैद के "जाए तो जाए कहां" में या महेंद्र भल्ला के "एक पति के नोट्स" में भी विडंबनात्मक रूप में उसकी अभिव्यक्ति हुई है। आधुनिक जीवन की चपेट में मनुष्य का व्यक्तित्व एक ओर परिचयहीन होता जा रहा है

परन्तु दूसरी ओर प्रतिहिंसा की भावना बाहर अभिव्यक्ति न पाकर कभी अपनी या अपने पास के लोगों की तकलीफ में व्यक्त हो रही है। विडंबनात्मक अवस्था यह है कि वह अपने ग्रहं को बनाए भी रखना चाहता है और दूसरे की उपस्थिति से अपने स्वातंत्र्य के खंडित होने का बोध भी उसे होता है। फिर दूसरे की आवश्यकता की विवशता भी उसे बेचैन कर रही है। इस कशमकश में उसके जीवन में भी एक तरह की अतृप्ति, परपीड़न और आत्मपीड़न की प्रवृत्तियां उसे मानसिक दृष्टि से सहज बना रही हैं। आधुनिकता के इस तीसरे दौर में ऐसा उपन्यास—महत्त्वपूर्ण उपन्यास—खोज पाना मुश्किल है जिसमें सेक्स के उल्लासमय परितृप्ति देने वाले क्षणों को रूपायित किया गया हो। मानवीय सम्बंधों में आ रही जड़ता केवल पति-पत्नी तक सीमित नहीं है, वह वर्गों, जातियों, ओहदों, ग्रार्थिक तथा अन्य प्रकार के लोभों के आधार से समूचे समाज में फैल रही है— एक तरह की अमानवीयकरण की तेज प्रक्रिया में आत्म-निर्वासित व्यक्ति थोपी गई ज़िंदगी को इसी तरह ओढ़ कर, उतार-फेंक कर मुक्त होना चाहता है। फ्रायड की शब्दावली आज इन उपन्यासों की मानसिकता को समझने के लिए पूरी नहीं पड़ती लेकिन उसके द्वारा प्रतिपादित *Death Instinct* का सामूहिक रूप यहां अवश्य प्रकट हो रहा है।

ग्राधुनिक संवेदना के कुछ ऐसे उपन्यास भी हैं जो कुल जीवन को यथावत् रूप में लेते हैं। उसके पीछे की सांस्कृतिक आर्थिक चौखट या व्यवस्था के फ्रेम को अनदेखा कर जीवन के वर्तमान-प्रवाह में उत्पन्न होने वाले क्षणों के संवेदनों को ही आकारित करते हैं। निर्मल वर्मा के "वे दिन" में कुछ विघटित परिवार-व्यवस्था और आत्मनिर्वासन के कारणों की संकेतात्मक अभिव्यक्ति थी लेकिन "लाल टीन की छत" में जैसे न वे अतीत में जाना चाहते हैं और न भविष्य की चिंता करना चाहते हैं—वे साकार करना चाहते हैं वर्तमान की क्षणसंवेदना। जीवन की छोटी अनुभूतियों और संवेदनों को संप्रेषित करने की ग्रद्भुत क्षमता निर्मल वर्मा के पास है। मानो प्रकृति भी अपने अकेलेपन को महसूस करती हुई पड़ी है। हर वस्तु अपना स्पंदन लेकर उपस्थित है। बीच-बीच में ईसाई धर्म का क्षीण संकेत उनकी संवेदनाओं को आध्यात्मिक स्पर्श जरूर देता है परन्तु कुल संसार अकेलेपन का है—समाज जीवन की आपा-धापी से अलग अपने ही जीने की वेदना भोगने वाले उनके मूक चरित्र जीवन की कुल सार्थकता पर ही प्रश्नचिह्न लगाकर आंखों से ओझल हो जाते हैं। उनके पात्रों में न प्रतिहिंसा है, न क्रूरता। वे महज पैदा होने के कारण जीने को ढो रहे हैं—किसी भी प्रतिवाद या शिकायत के बिना। आश्चर्य यह है कि निर्मल वर्मा के पास उच्चकोटि का बौद्धिक आकलन है जो उनके निबंधों में लक्षित किया जा सकता है। परन्तु अपने कथासाहित्य में उससे वे जैसे असंपृक्त हैं। अगर किसी विशिष्ट दृष्टि का ग्राग्रह नहीं है तो निर्मल वर्मा की रचना उसे एक ग्रनूठी संवेदनात्मक दुनिया का एहसास दे जाती है। और मुझे लगता है कि पूरे परिदृश्य में या स्पेक्ट्रम में ऐसी रचनाओं का अपना महत्त्व है—अमानवीकृत होती जाने वाली संवेदना को भी जीवन्तता की चेतना ऐसी रचनाएं दे जाती हैं।

फिर भी हिंदी उपन्यास के संपूर्ण परिदृश्य को देखते हुए ऐसा लगता है कि हमारे उपन्यासकार आसपास की स्थितियों के प्रति और उससे भी अधिक उसकी मार से उत्पन्न स्वकेंद्रित संत्रास के प्रति जितने सजग हैं उतने समग्र वैश्विक स्थिति के प्रति नहीं। गिरीश अस्थाना ने "धूप-छाहीं रंग" जैसा बृहत् उपन्यास युद्ध की स्थितियों पर लिखा और निश्चय ही उनके द्वारा भोगे यथार्थ ने उसमें खास प्रभविष्णुता उत्पन्न की है। परन्तु क्या वे विश्व में बढ़ते युद्ध संकट का बहुआयामी संदर्भ दे सके? हमारे राजनीतिक चहल-पहल पर लिखे गए उपन्यास चुनाव, राजनीतिक पार्टियों, नेताओं और जनता इत्यादि पर व्यंग्यात्मक कोण से सामान्यत: एक-सी बातें लिखते हैं—विश्व में दो या तीन गुटों में चल रही कुटिल राजनीति और उससे प्रभावित भारतीय राजनीति की असलियत का स्वरूप क्या किसी ने प्रस्तुत किया है? वैज्ञानिक तकनीकी गति और विकास के जो दुष्परिणाम राष्ट्र को या विश्व को भुगतने पड़ रहे हैं या भविष्य में भोगने पड़ सकते हैं, उनका व्यापक रूप क्या किसी एक भी उपन्यास में आया है? समस्त विश्व के विनाश की भयावह ध्वनि किसी उपन्यासकार को सुनाई पड़ी है? प्रकृति पर बलात्कार के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली स्थिति और मनुष्य दोनों के विनाश की संभावना को किसने संकेतित किया है? — मनुष्य को सुख और दुख दोनों प्रदान करने वाली वैज्ञानिक गति का सही चित्र उपन्यासकार क्यों नहीं प्रस्तुत करते? इसका अर्थ यह हुआ कि हमारी आधुनिक चेतना इतनी स्वकेंद्रित हो गई है कि वह परिवेश के सम्यक बोध से कटी हुई है। (यहां सी. पी. स्नो की दो संस्कृतियों वाली बात ध्यान में आती है।)— आधुनिकता अगर मनुष्य को इसी तरह वर्तमान क्षण के संवेदन तक सीमित करने वाली है तो अच्छा है कि हम उसके ऐतिहासिक कार्य के प्रति आभार व्यक्त कर उसको विसर्जित ही करें। हमें एक यूटोपिया रचने की आदत सी हो गई है—ईश्वर, धर्म, उदारतावाद, सुधारवाद, गांधीवाद, समाजवाद और आधुनिकतावाद - अब इन देवताओं की सीमाओं को समझकर हमें चाहिए कि फिर से इन वादों की गिरफ्त से बचने का प्रयास करें—यह भी एक स्वत्व की, स्वायत्तता की, स्वातंत्र्य की खोज है। हो सके तो एक नया यूटोपिया गढ़ें जो हमें थोड़ा आगे ले जाए—लेकिन इस भान के साथ कि सब देवता कभी न कभी पतित होने वाले हैं। क्या कोई नया उपन्यासकार नए यूटोपिया का सपना देखेगा?

———

कुफ्र अज़ का'बा—मेरा नाम तेरा नाम

—डॉ० प्राणनाथ तृच्छल

आम आदमी की यह अदम्य जिज्ञासा होती है कि वह वे सारी बातें जानना चाहता है जो जानने योग्य नहीं हैं और जो बातें जानने योग्य होती हैं उनकी उसे परवाह नहीं। पत्रकार अपने व्यवसाय की अभिवृद्धि को मुख्य उद्देश्य मानकर आम आदमी की इस इच्छा की पूर्ति करते रहे हैं। इसके हेतु वे अपनी आंखें हर किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के शयनकक्ष के दरवाज़े के की-होल से सटाकर रखते हैं—कम से कम पहले वे केवल अपने कान ही इस कार्य में लगाते थे। किसी राजनेता, सामाजिक कार्यकर्ता या धर्मगुरु की भूत या वर्तमान वैयक्तिक घटनाओं को सरेआम प्रकट करने के लिये गम्भीर पत्रकारों में भी आपस में होड़ लगी रहती है। वे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को आम लोगों की अदालत के कटहरे में ला खड़ा तो करते हैं परन्तु समूह की न्याय करने की क्षमता के प्रति उदासीन होकर अपने दायित्व से मुंह मोड़ लेते हैं।

अपने आपको अभिव्यक्त करने की छूट जब हर किसी को हो तो यह आवश्यक नहीं कि कोई कलाकार, पत्रकार आदि ही हो। जॉन मथाई नेहरू के निजी सचिव होने के नाते यदि किसी पुस्तक में कुछ सनसनीखेज़ बातें छापे, वे थोड़े समय के लिये कुछेक पढ़ाकू व्यक्तियों की गपशप का विषय बन सकती हैं, यदि डॉम मोरेस पत्रकारिता के जीवन के कुछ निजी 'अनुभव' लिखे उसका भी कोई स्थायी महत्व नहीं। ऐसी पुस्तकें तो पुस्तकालय के किसी कोने में स्वयंमेव गुम हो जाया करती हैं। 'पर्टिनेंस', 'दि महाराजा' जैसी पुस्तकें क्षणिक अस्तित्व के पश्चात् समय के डस्टबिन में चली जाती हैं। परन्तु 'ओडेपस' या द्रोपदी चीरहरण साहित्य की वस्तु होने के कारण चिर-स्थायी ही नहीं, नित नवीन सन्दर्भों में व्याख्यायित होते रहे हैं।

मेरा नाम तेरा नाम एक नॉवेल है। नॉवेल ऐसी साहित्य-विधा है जो अधिकतम लोगों को प्रभावित करती है। नॉवेल हमारे दूसरों के प्रति व्यवहार को भी प्रभावित करती है और हमारे आचार भी उसके पढ़ने से अछूते नहीं रह पाते। जब लेखक किसी पात्र के व्यवहार का ब्यौरा देकर एक प्रकार से उसे प्रमाणपत्र देता है तो पात्र के व्यवहार से पाठक भी मानसिक

रूप से प्रभावित होकर ऐसी ही चेष्टाओं को अपने जीवन में ढालने को प्रवृत्त हो जाता है। लेखक जब वैयक्तिक रूप से विचारक हो जाता है तो वह समाज को कुछ देने की योग्यता भी पा लेता है। परन्तु अधिकतर उपन्यास केवल धारा के साथ वह जाते हैं ; उनमें तनिक संवेदना रहती है परन्तु बुद्धिभ्रंश अवश्य हो जाता है। सम्भवतः इसी कारण टी. एस. ईलियट को कहना पड़ा कि साहित्यालोचना में नैतिक मानदंडों की परमावश्यकता है। उपन्यासकार का दायित्व बहुत ही सूक्ष्म और बृहद् है। यह दायित्व और भी बढ़ जाता है जबकि उपन्यासकार की महानता स्वीकार की जा चुकी हो। 'मेरा नाम तेरा नाम' एक महान कलाकार के कीचड़ में गिरने का लेखा बनकर रह गया है। यह उद्घोष वड़बोल मात्र है कि इस उपन्यास का मुख्य पात्र यह देश है। यह मान्यता भी निरर्थक सी लगती है कि इस देश की व्यवस्था आदमी नहीं बनाती है, छोटा आदमी और बड़ा आदमी बनाती है।

यह सही है कि आज देश एक विचित्र बेचैनी में छटपटा रहा है और इस छटपटाहट का आभास ही नहीं प्रत्यक्ष अनुभव हर किसी को हो चुका है। कुछेक इसको इस शोचनीय दशा से उभारने की सोच रहे हैं। कुछ का दावा है कि अगर इस वर्तमान छटपटाहट से उसका उद्धार हो भी जाये, इससे इसकी अधिकांश जनता को कोई लाभ नहीं होने वाला। कुछ इसके इतिहास को देखते हुए इसके उद्धार की सम्भावनाएं इसके ऐतिहासिक क्रम को बनाए रखने में मानते हैं और जो कुछ व्यतिक्रम बीच-बीच में इसके इतिहास में आये हैं उनका निराकरण आवश्यक समझते हैं। इसी देश के कुछ वासी अपने इतिहास को समूल नष्ट करके बाद में नयी दिशा खोजने के पक्ष में हैं।

इस देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य इसकी विशालता है और यही विशालता इसकी सबसे बड़ी शक्ति भी है। अपनी विशालता के अनुरूप ही इसमें विभिन्न और कभी-कभी विरोधी, मान्यतायें रखने वाले लोग हैं तो एक दूसरे के प्रति सहिष्णु और असहिष्णु लोग भी यहां पर ही समय-समय पर उगते रहे हैं।

अभी कल ही की बात है…

'मेरा नाम तेरा नाम' वर्तमान इतिहास के इर्द-गिर्द बुना गया उपन्यास है। इस इतिहास के साक्षी अभी प्रायः जीवित हैं। इस इतिहास की ऐतिहासिक सामग्री अभी ताज़ी है और किन्हीं विश्वविद्यालयों के शोध छात्रों को सुलभ और सहज प्राप्त होने के अतिरिक्त अभी पॉपुलर रीडिंग का विषय भी है। इसके कुछ महत्वपूर्ण सूत्र अभी आम आदमी, खास आदमी की भी, पहुंच से बाहर रखे गये हैं और अवधि बीत जाने का इन्तज़ार अनगिनत पाठकों को है। भविष्य में इस इतिहास का क्या मूल्यांकन होगा, यह भविष्य ही बतायेगा, परन्तु एक ज़िम्मेदार कलाकार (या कलाकार ज़िम्मेदार नहीं हो सकता !), अपनी बहुत ही निम्न प्रकार की भावनाओं के वशीभूत होकर अपनी प्रखर बौद्धिकता से सहसा ही छुट्टी नहीं ले सकता ; न ही प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों का नाम बिगाड़ कर अपने दायित्व से मुक्त हो सकता है। औपन्यासिक कला इस बात में निहित नहीं हो सकती कि प्रधानमन्त्री को अवनीश बैनर्जी कहा

जाए और उसकी दो सन्तानों की कल्पना करके पुत्र क्षितीश को एल. एस. डी. का एडिक्ट कह करके उससे अपनी बहन शर्मिला से बलात्कार कराया जाये ; शर्मिला, पुत्री, को एक अति विक्षिप्त वासना का शिकार बनाकर सिकन्दर मिर्ज़ा, शिक्षामन्त्री, की विवाहिता हिन्दू पत्नी के शयनकक्ष में उसी के साथ सहसेज शायिनी दिखाया जाये, जिसके फलस्वरूप, सौतिया डाह के कारण पेरेमिला मिर्ज़ा को, सुविधा की मैरेज में, पेरेमिला मलकानी बनना पड़े।

अभी यह वर्तमान इतिहास ही है कि क्रिस्टीन कीलर कांड के कारण लार्ड ह्यूम को इस्तीफा देना पड़ा ; या अमेरिका के एक भूतपूर्व राष्ट्रपति के व्यक्तिगत जीवन के सनसनीखेज़ कारनामे एंडरसन कालमिस्ट के विषय हुए। तत्देशीय पत्रकारों ने इन बड़े आदमियों को कोई मुखौटा नहीं ओढ़ाया। फिर क्या बात है कि उपन्यासकार को, जिसने अपने आपको इतनी छूट दी कि वह प्रत्येक बड़े आदमी के साथ-साथ उसके शयनकक्ष में एक अदृश्य व्यक्ति की भांति उपस्थित सब कुछ देखता रहे, शिक्षामन्त्री, सांस्कृतिक मामलों के मन्त्री आदि के नाम गढ़ने पड़े। —'तुम में हिम्मत है तो दुनिया से बगावत कर दो, वरना···' समय रहते ही इनको उघाड़ना चाहिए था। नाम बदल करके, जोड़-तोड़ करके यथार्थ के नाम पर उनके सेक्स् प्लाइट्स का वर्णन देना उपन्यास की सैंक्टिटी बिगाड़ने के बराबर है। यह यथार्थ नहीं रहता, उपन्यासकार की मानसिक विक्षप्ति का ढिंढोरा पीटने का साधन हो जाता है। यों तो भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सामर्थ्य और सीमा' में रानी (राजकुमारी) के चाहने वालों की भीड़ लग जाती है ; या यशपाल के उपन्यास 'क्यों फंसे' में 'पत्रकार' अपनी वासनाओं की शुरुआत अपनी मामी के सहशयन के साथ करता है और हर आर्ट प्रदर्शनी या अन्य ऐसे ही स्थान में अपनी वासनाओं की तृप्ति ढूंढता है। ऐसी चर्चाओं का उपयुक्त स्थान चीप पत्रिकाएं ही हो सकती हैं। एक उपन्यास की कलेवर वृद्धि इन उत्तेजक वर्णनों से करके न पाठक को कुछ हासिल होता है, न ही उपन्यासकार का कोई कथ्य पुष्ट या इष्ट सिद्ध होता है। ये बातें तो किसी कॉफी हाउस में किए गए गॉसिप के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।

उपन्यासकार से ईमानदारी का तकाज़ा किया जाता है और आधुनिक युग में तो इसकी मांग कुछ अधिक ही है। ईमानदारी से यथार्थ वर्णन में विश्वसनीयता भर दी जाती है। —कल्पना की किस बेढंगी उड़ान से यह बात ग्रहण की जा सकती है कि सिकन्दर मिर्ज़ा अपने शयनागार में पेरेमिला के साथ भोगरत है और उसकी नंगी देह से शर्मिला की नंगी देह सटाकर सिकन्दर मिर्ज़ा दोनों से एकसाथ वासना-तृप्ति करता है। यह उपन्यासकार का निजी मानसिक विकृतियों को पाठक पर थोपने का प्रयत्न है। परन्तु अभी पाठक सुधी और सजग है। वह निरी गॉसिप को उपन्यास के माध्यम से ग्रहण करने को तैयार नहीं। भोगासन-शिक्षा ज़रूरतमन्द पाठक को 'हिदायत नामों' से भली प्रकार मिल सकती है।

गॉसिप का अपना एक 'वर्च्यू' भी है—इससे कहने वाले का लक्ष्य चूक जाता है। बालब्रह्मचारी परिमल राजघराने में प्रवेश पाता है, उसको कमलिनी देवी 'भोगासन' सिखाती है, वह स्वयं दोषी है ऐसी ध्वनि तो कदापि नहीं निकलती लेखक के कथन से ! बौद्धिक स्तर

पर निरपेक्ष भाव से विचार करने पर जगत्स्वामी 'सिन्नड एगेन्स्ट' है ! क्या यही व्यक्त करने का उद्देश्य है मुद्रा का ? क्षितीश अपनी बहन शर्मिला से बलात्कार करता है ; उसका बाप उसके प्रति उदासीन है, उसकी मां उससे क्षुब्ध है, परन्तु लेखक उससे क्षुब्ध नहीं क्योंकि वह एल. एस. डी. के नशे में ही उससे ऐसी हरकत करता है ! खैर, गॉसिप इज़ गॉसिप। भूतपूर्व लॉ मिनिस्टर अमलदास का इतिहास अपू से जोड़कर लेखक क्या कहना चाहता है, यह समझ की दूर रसाई ही स्पष्ट कर सकती है । अपू पर क्रान्तिकारिता थोपी हुई है, उसका पुत्र अमलदास क्रान्ति की वृत्ति को एक्सप्लायट करके 'बड़ा आदमी' बनता है और कालान्तर में लॉ मिनिस्टर बन जाता है ! लगता है लेखक इस पक्ष में है कि 'बड़ा आदमी' का पुत्र ही 'बड़ा' हो सकता है । ऐसा लगता है कि लेखक—गॉसिप के मूड में—'तेरी कलई खोल दूंगा।' के तेवर में लिख रहा है । दूसरी ओर 'बड़े आदमी' के पुत्रों, चिन्मय घोषाल और क्षितीश बैनर्जी, के प्रति उसकी सहज मानवीय सहानुभूति है । (यदि उपन्यासकार इस मानवीय सहानुभूति को भी उभार सकता तो उपन्यास का कुछ मूल्य होता।) यह मानवीय सहानुभूति अमलदास के विक्षिप्त शरीर और मृत शरीर से भी वह भरसक खींच लेता है । 'युअर्स फेथफुली' का लेखक कहीं पर रम गया है तो केवल 'बड़े आदमियों' के सेक्सप्लाइट्स का रुचिपूर्ण वर्णन देने में !

इस देश की स्वतंत्रता के साथ कई वर्गों की महत्त्वाकांक्षाएं सबद्ध थीं, कुछेक का ज़िक्र तो इस उपन्यास में है । नारियों का एक ऐसा वर्ग था जो अंग्रेज़ियत का प्रशसक था लेकिन अंग्रेज़ों—शासक वर्ग – तक उसकी रसाई न थी । स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ-साथ ब्यूरोक्रेसी देशी लोगों के हाथ लगी । उनसे सम्बधित नारी वर्ग अपने स्वप्नों को साकार करने का अवसर पा गया । अंग्रेजों के अनुकरण पर यह नारी वर्ग 'डिस्कोथेक', 'बॉटिक', 'फलॉवर शो', 'आर्ट इंटरनैशनल' आदि का संचालन चुंधियायी आंखों से करने लगा । यह नारी वर्ग न तो 'वीमन्स लिब' का और न ही भारतीय नारी का किसी भी रूप में प्रतिनिधित्व करता है । इसी वर्ग की हिना, पेरेमिला, मिसेज़ अय्यर, शैला लोनावाला प्रभृति पात्र हैं । इनकी शरीर यष्टि तथा पुष्टि के वर्णन में—'मोल्स' से लेकर नाराज़ बिल्लियों की तरह हिलने वाली छातियों तक—इन मोटी चिकनी औरतों की यौन-भूख में—लेखक का रम जाना, रम करके अलग हो जाना, फिर मज़ाक उड़ाना विचित्र संयोग है । भारतीय नारी की जीनियस के प्रति इस प्रकार की उदासीनता लेखक की ज़्यादती है । यह उन नारियों के प्रति अवहेलना का भाव है जिन्होंने किसी भी पार्टी में सिद्धान्तों को समझ करके और उनका वरण करके ही अपना स्थान बना लिया है । उदाहरण घसीटने की आवश्यकता नहीं, यह भी तो वर्तमान इतिहास है ।

भारत का अपना सुदीर्घ इतिहास है, इस इतिहास से एक परम्परा विकसित हुई है । कभी समय था जब सारा भारत बौद्ध हो गया था । आज समय है जब अनेक धर्म होते हुए भी कोई सिद्धान्त नहीं । धर्म के नाम पर यदि कोई चीज़ बची हुई है तो वह है भारतीय नारी । यह कहने में कोई अनौचित्य नहीं कि भारतीय नारी ही भारतीय परम्परा है । वह इस परम्परा का निर्वाह करती आई है । नूरजहां, लक्ष्मी बाई कोई आकस्मिक संयोग नहीं हैं । वर्तमान

युग में भी नारी वैयक्तिक कुंठाओं के कारण राजनीति के मंच पर नहीं उतरी, वह प्रतिक्रिया के कारण ही राजनीति में नहीं आई ; वह समय की मांग के अनुसार अपनी योग्यता और क्षमता के बल पर आई है। इस उपन्यास में इतने नारी पात्रों में से एक भी ऐसा नहीं जो शरीर और मस्तिष्क दोनों से स्त्री मात्र के अतिरिक्त मनुष्य भी हो ; प्रायः सभी पात्र ऐसे हैं जिनके 'हृदय के स्थान पर भी एक योनि-छिद्र है'। 'प्रिंसेस' कमलिनी घोषाल के व्यवस्था-विरोधी वक्तव्य भी केवल कुंठाजन्य प्रतिक्रिया ही हैं। इस उपन्यास के प्रायः सभी पुरुष पात्र 'पेनिस-कांशस' हैं और सभी स्त्रियां विलास-भुभुक्षु ! इस प्रकार लेखक आधी से अधिक जनसंख्या की अवहेलना कर गये हैं।

कुछ समय पूर्व किन्हीं ऐतिहासिक दबावों के कारण भारत के पूर्वी भाग में नक्सलवादी उभरे। लेखक ने न जाने किस डर से उनको बगानवादी कह दिया है। 'बगानवादी' विचारधारा के समर्थक कनु सान्याल—उपन्यास में हिमांशु सान्याल– को अपना मसीहा समझते थे। हिमांशु का विकास भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के छात्र-नेता के रूप में किया गया है। ऊपर से देखने पर वह चे ग्येवारा से प्रभावित है। लेकिन भारत पर चीनी आक्रमण के बाद से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दो धड़ों में विभक्त है। चीन समर्थक और रूस समर्थक कम्युनिस्ट भारत में न जाने क्यों एक-दूसरे के विरोधी हैं। राय चीन समर्थक धड़े का है और माने रूस समर्थक धड़े का। नक्सलवादी, चीन समर्थक धड़े से हैं। उपन्यास में माने और राय (डिप्टी चीफ मिनिस्टर बनने के बाद) संशोधनवादी और साम्राज्यवादी हो गए हैं। फिर भी हिमांशु का विरोध राय से है और माने के साथ उसका सम्पर्क बराबर बना हुआ है। माने हिमांशु से कहता है कि चे चे ही हो सकता है। चे ग्येवारा—चिकारा। चिकारा चिकारा वाला ही बजा सकता है। (हिमांशु से क्रान्ति की असफलता का इशारा।) ऐतिहासिक घटनाओं की इस प्रकार की तोड़-मरोड से कौन सी बात हासिल हुई उपन्यास के सन्दर्भ में, यह विचार करने पर भी समझ में नहीं आती। पुनः यहां माने डांगे के सिवा और कोई हो नहीं सकता, चाहे कनु सान्याल की जीवनी का उपन्यास के हिमांशु के साथ कोई सम्बंध न हो। उपन्यास के हिमांशु की तुलना यदि किसी चरित्र से की जा सकती है तो ऑस्कर वाइल्ड के नाटक 'वेरा ऑर दि निहिलिस्ट्स' की वेरा के साथ। परन्तु वेरा के मुकाबले का चरित्र निर्मित होते-होते रह गया है। तोड़-फोड़, मार-काट करना उसकी शपथ और उसकी क्रीड थी। उसने अपनी शपथ का निर्वाह ज़ारेविच के स्थान पर अपनी हत्या करके किया। वाइल्ड ने बड़ी दक्षता से दिखाया कि साध्य से ऊपर साधन नहीं हैं। परन्तु हिमांशु के सम्बंध में उपन्यास इस स्थिति पर आके समाप्त हो जाता है कि साधन का प्रयोग एक मॉक-प्रयोग के रूप में हुआ, अतः वह अपना लक्ष्य त्याग देता है। जहां इतनी विकृति दी तथ्यों को, घटनाओं को वहां एक चरित्र का चित्रण करने के लिए उपन्यासकार अपनी कला की कुशलता दर्शा सकता था—उस मॉक-प्रयोग 'दि रेवेल्यूशन' वाले जुलूस से प्रभाव चुराकर। हिमांशु अपनी क्रान्ति के प्रतीक दोनों पिस्तौल फेंकने को नहीं कहता। हिमांशु का यह तर्क बहुत कमज़ोर है कि वे (पिस्तौल) 'लुंगियों द्वारा परास्त—परास्त नहीं, लुंगियों द्वारा पछाड़ी क्रान्ति की

नुमाइश बन सकेंगी'। यहां पर आकर यह प्रभाव लक्षित होता है कि क्रान्ति सोद्देश्य आरंभ से ही नहीं थी और यदि कोई उद्देश्य था तो वह राय को गोली से उड़ा देने का। वह भी इस लिए कि विदेश यात्रा के लिए छात्रनेता के रूप में वह राय द्वारा कभी नहीं भेजा गया। जो जो भी गए अपात्र थे। हां, लेखक ने एक विशेषता भर दी है हिमांशु में कि वह अन्य पात्रों की भांति लिबिड नहीं है, स्त्री-आकर्षण का शिकार नहीं बना है। इससे कम स्तर पर जाफरी दूसरा ऐसा पात्र है जो निमंत्रण पर भी पर-स्त्री गमन नहीं करता यद्यपि श्यामली के आकर्षण से वह मुक्त नहीं है। उपन्यासकार ने हिमांशु को बगानवादी होने की प्रसिद्धि और उसके नाम के आतंक का परिचय दिया है इसके बावजूद हिमांशु पर यह महानता थोपी गयी लगती है। उपन्यासकार के इस अधिकार को नकारा नहीं जा सकता कि वह प्रत्येक घटना की तह में जाए और कार्य-कारण सम्बंध प्रस्तुत करे। सेक्स प्लाइट्स् के सम्बंध में वह गहरे पैठ कर कीच निकाल लाया है, परन्तु महाजनबगान की घटना का कारण बताकर उसने एक जाच-कमिशन की भांति रिपोर्ट प्रस्तुत की है जिससे उस घटना का महत्व हीन होकर रह जाता है। फिर भी ओल्ड कॉस्पर की भांति सारे उपन्यास में यही रट लगाई गई है—'बट इट वाज़ ए ग्रेट विक्ट्री'।

छोटा आदमी बनाम बड़ा आदमी

उपन्यास में 'छोटा आदमी' तो कहीं नज़र ही नहीं आता। यदि उनकी 'अपॉलोजी' में कुछ है तो वे हैं कुछ 'लोग' जिन में किसी के अस्तित्व या अनस्तित्व के बारे में केवल दृश्य वर्णन हैं। जो हिमांशु के साथी हैं—क्रान्ति के वाहक हैं—उनमें भी कोई 'लम्बा आदमी' है तो कोई 'बहुत नाटा चौड़ा आदमी'; या फिर 'टेढ़े बाज़ू और भेंगी आंखों वाला दूसरा आदमी', नहीं तो 'कीच से सने हुए सड़े चेहरे', 'कीच में दुबके हुए मैले मेंढ़कों जैसे लोगों की भीड़', 'सड़े हुए बिल्कुल गंजे और दरांती जैसे दांतों वाला आदमी', 'पंख उगने के बाद मरने को हो रही चींटियों की तरह रेंगते हुए मैले-मैले लोग'। यह छोटा आदमी साधारण मनुष्य का विकृत रूप, विचित्र रूप या बच्चों द्वारा बनाये गये हास्य-चित्र मात्र हैं। यह भी कारण है कि उनके द्वारा क्रान्ति के स्थान पर कुछ अवांछित कार्य ही होते हैं। कलाकार अपने कौशल से इन चीज़ों (लोगों) में भी जान डाल सकता था परन्तु यहां पर उपन्यासकार की अपेक्षा नाटककार कार्यरत दीखता है अतः औपन्यासिक जीनियस पिछड़ के रह गयी है; और औपन्यासिक क्षितिज भी परिसीमित हो के रह गया है। 'छोटा आदमी' के लिए जो विशेषण उपन्यासकार के पास रह गये हैं उनसे उसका मानवता के प्रति क्षोभ ही झलकता है। इससे वह अपनी विषय वस्तु के प्रतिपादन में निश्चित असफलता के कारण छटपटाता सा उनसे ऐसे अपराध कराता है जो 'छोटा आदमी' को अपनी जीविक यातनाओं से त्राण पाने के पथ में बाधक ही नहीं, घातक होते हैं। ऐसे एक 'छोटा आदमी' द्वारा सुखलाल की निर्मम हत्या से किसी प्रकार की त्रासदी का निर्माण नहीं हो पाता। सुखलाल की कीच में सनी लोथ किसी भी प्रकार वीभत्स से उभर नहीं सकी। वीभत्स के परिदृश्य भी पीछे छोड़ते हुए, आगे की ओर तीव्रगति से बढ़ पाने की लालसा और उद्देश्य—क्रान्ति के प्रति एकनिष्ठता दर्शाने की अदम्य

वांछा—के कारण, सभी वर्णन लेखक के दुःस्वप्न मात्र बनकर रह गये हैं। यह तर्क मान्य नहीं हो सकता कि 'छोटा आदमी' को अस्तित्व रहित दिखाना ही उपन्यासकार का उद्देश्य है। अनजाने ही इसका निराकरण भी स्वयमेव हो जाता है जबकि 'कैरिकेचर' में भी जान आ जाती है और वह उत्क्रान्त हो जाता है क्योंकि एक अहीर ने ब्राह्मण को कोहनी से धकेला। वास्तव में पांच हज़ार बरस से मरे हुए 'नहीं हैं ये लोग'। ये पांच हज़ार, सतत यातनाओं और निरंतर डिप्रेवेशन के बावजूद संस्कारों से जी रहे हैं। इन लोगों को संस्कार च्युत करके नहीं जिलाया जा सकता ; संस्कार च्युत करने वाले 'हितैशी' (सुखलाल) तक की ये निर्मम हत्या कर सकते हैं। यहां पर उपन्यासकार का मोहभंग होना चाहिए था और बगानवादियों की अन्तर्निहित कमज़ोरियों को पहचान कर खिसियानी बिल्ली की भांति खंभा नोचने की फिक्र त्याग देनी चाहिए थी। ऐसा न करने के कारण ही वह समाज के उस गिरोह को 'वर्ग' समझ बैठा है जिनके साथ सत्ता संयोगवशात संबद्ध है (वह स्वयं कहता भी है कि राजसत्ता रजस्राव की भांति जांघियों से बहती है !) और अपनी इसी सूझ के कारण उस (गिरोह) के व्यक्तिगत जीवन की चर्चा करने लग बैठा है। 'मेरा नाम तेरा नाम' में जहां भी लेखक को मौका मिला जिस किसी की छीछालेदर करता चला जाता है। मदन प्राणनाथ और सुधांशु पाठक की सहानुभूति के पात्र हैं। सरूपसिंह, श्यामानन्द मलकानी और मालिनी सान्याल भी इसी कोटि में आते हैं—क्योंकि ये सब न 'बड़ा आदमी' हैं और न 'छोटा आदमी'—यदि उपन्यास में लेखक को कोई सफलता मिली है तो वह इन्हीं गौण पात्रों में दृष्टव्य है। ज़ोहरा का किस्सा, किस्सा कहने का लोभ संवरण न कर सकने के परिणाम-स्वरूप ठोंस दिया गया है।

क्रान्ति बनाम परोपकार

जाफ़री में परोपकार की भावना का वर्णन नितान्त असंगत और अस्वस्थ है। परोपकार की भावना, 'अल्ट्रूइज़्म', से ही प्रेरित हिमांशु भी है। परोपकार की विडम्बना यह है कि जिसके उपकार की बात सोची जाती है उसको उसकी परवाह नहीं होती। जिन सबके जीवन-स्तर को बढ़ाने की बात की जाती है वे अपने वर्तमान जीवन-स्तर से भिन्न जीवन-स्तर की कल्पना भी नहीं करते और 'परिवर्तन' या 'क्रान्ति' में यदि वे रुचि लेते हैं तो केवल खिलवाड़ के लिये। ऐसी हालत में केवल एक निश्चित परिणाम होता है—क्रान्ति की असफलता। परोपकारी अपना सा मुंह लेकर रह जाते हैं ; इतिहास के खंडहर में लुप्त हो जाते हैं। परन्तु औपन्यासिक पात्रों को उपन्यासकार उभार सकता है, जैसे लॉ मिज़्रेब्ल के ज़ां-वल-ज़ां को उभारा गया है, यदि वह चाहे तो। जाफ़री और हिमांशु को सम्भ्रम में डालकर लेखक ने इसके प्रति अपनी अनिच्छा का भद्दा परिचय दिया है।

इस उपन्यास में न केवल पात्रों की, संस्थाओं और संस्थाओं के प्रतीकों की भी अवहेलना की गयी है। भारतीय संसद में आरम्भ से बड़े प्रबुद्ध और प्रखर सांसद और विशेषकर स्पीकर हुए हैं। उनकी संसद प्रणाली के चालन की काफी और उचित प्रशंसा भी हुई है। परन्तु 'मेरा नाम तेरा नाम' में स्पीकर एक असभ्य और शिष्टाचारहीन 'मिट्टी का माधव' के

अतिरिक्त कुछ नहीं है। संसद की कार्यवाही के दौरान दो बार 'अध्यक्ष महोदय ने कुछ अजीब तरह से एक कोल्हू ऊंचा किया और फिर नीचे कर लिया। प्रनके पीछे वैठे हुए (?) एक पगड़ीधारी आदमी ने नाक को थोड़ी-थोड़ी हरकत देनी शुरू कर दी।' और इस संसद के मूर्ख सांसद सारे देश को मूर्ख बना के रखते हैं (?) क्योंकि 'व्यवस्था के प्रश्नों' पर ही यह संसद अटक के रह जाती है। लेकिन अपनी असतर्कता में लेखक यह भी मानता है कि देश महाजनबगान की वारदात से हिल गया है जिसका प्रमाण यह है कि संसद के पूरे सत्र में बारह दिन केवल महाजनबगान की घटना को लेकर ही बहस हुई !

———

लोक संस्कृति और साहित्य

—डॉ० रामदरश मिश्र

संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति शब्द अपने आप में इतना लचीला है कि इसकी अनेक व्याख्याएं की गयी हैं। उन व्याख्याओं के जाल में न उलझ कर यह कहा जा सकता है कि मानव की रक्षा और उत्कर्ष के लिए जो वैचारिक और भावात्मक प्रयत्न होते रहे हैं उनका सामूहिक रूप संस्कृति है। इसके अंतर्गत धर्म, दर्शन, साहित्य, कलाएं सभी समाहित हो जाती हैं। इन भावात्मक और वैचारिक प्रयत्नों का प्रतिफलन बाहरी जगत में होता रहता है जिसके फलस्वरूप विशेष प्रकार के रीतिरिवाज, वेशभूषा आदि बनते हैं और पर्वों, त्योहारों, उत्सवों आदि की योजना रहती है। इस प्रकार संस्कृति के भीतरी और बाहरी दो पक्ष हो जाते हैं। भीतरी पक्ष में भावात्मक और वैचारिक प्रयत्नों को लिया जा सकता है तथा बाहरी पक्ष में रीतिरिवाज, वेश-भूषा, पर्व-त्यौहार आदि आते हैं। प्रायः देखा गया है कि भावात्मक और वैचारिक जगत में हलचलें मचती रहती हैं। युगीन संदर्भों के दबाव और मानवीय अनुभवों, दृष्टियों और मूल्यों में तनाव पैदा कर उन्हें परिवर्तित करते रहते हैं किन्तु वेश-भूषा, रीतिरिवाज आदि क्रमागत ढग से चलते रहते हैं। परिवर्तन इनमें भी होते हैं किन्तु ये जातीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में किसी न किसी रूप में वर्तमान रहते हैं। इनमें तेज बदलाव नहीं दिखाई पड़ते। फैशन के स्तर पर आने वाले बदलावों की बात नहीं कही जा रही है। फैशन के स्तर पर बदलाव के बावजूद व्यक्ति विभिन्न सांस्कृतिक अवसरों पर परंपरावादी ढंग के वस्त्र आदि पहनते हैं। पर्वों और त्यौहारों की स्थिति तो और भी स्थायी है। अनेक देशों और जातियों के अपने-अपने पर्व और त्यौहार हैं। आधुनिकता के विकास के बावजूद ये ज्यों के त्यों बरकरार हैं, हां इनके साथ व्यक्ति के लगाव में कुछ कमी अवश्य आयी है।

लोक संस्कृति की पहचान

संस्कृति का एक पहलू लोक-संस्कृति है। संस्कृति की परिधि में आधुनिक बोध सम्पन्न शिक्षित समाज की संस्कृति भी आती है और क्रमागत मान्यताओं, विश्वासों और मूल्य चेतना

से जुड़े हुए अपढ़ या कम पढ़े लिखे देहाती अंचल के लोगों की संस्कृति भी आती है। लोक से अभिप्राय 'मनुष्य-समाज के उस वर्ग से है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित है।'[1] इसी लोक की संस्कृति का नाम लोक-संस्कृति है। लोक-संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक स्थिर, परंपरावादी और सामूहिक होती है। उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत मंद गति से काम करती है। लोक-संस्कृति का एक पक्ष (आंतरिक पक्ष) लोक जीवन के रागात्मक अनुभवों और जिन्दगी के बारे में लोक की सोच-समझ मान्यताओं तथा मुख्य चेतना से बना है, दूसरा पक्ष (बाह्य पक्ष) पर्व-त्यौहार, प्रकृति, रीतिरिवाज तथा वेश-भूषा से बना है। ये दोनों पक्ष काफी दूर तक एक दूसरे से प्रभावित हैं। बाह्य पक्ष एक वस्तु के रूप में लोक जीवन की भावना और वैचारिकता को अपने ऊपर टिकाता है और दूसरी ओर आंतरिक पक्ष अपने को मूर्त करने के लिए बाह्य पक्ष का विधान करता है। लोक-सस्कृति की अभिव्यक्ति के कई माध्यम हैं जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम लोक-साहित्य है। लोक-साहित्य में एक ओर लोक जीवन का दुख-दर्द, हर्ष-उल्लास का अनुभव तथा जीवन पर वैचारिक प्रतिक्रियाएं मिलती हैं तो दूसरी ओर पर्वों, त्यौहारों और प्रकृति के विविध चित्र मिलते हैं। लोक-जीवन के दुख-दर्द, हर्ष-उल्लास और वैचारिक प्रतिक्रियाओं का स्वर प्रायः पारंपरिक अधिक होता है जो समकालीन अर्थ-व्यवस्था के ठोस दबाव का परिणाम न होकर नियति के क्रूर विधान का परिणाम होता है, जिनकी वैचारिकता सामाजिक विषमताओं की बेचैनियों से पैदा न होकर बने बनाये रूप में चलती आती है। किन्तु आधुनिक काल में आकर लोक-साहित्य अपने समय की बेचैनियों से जुड़ जाता है। देश की गुलामी और समाज की जड़ता के विरुद्ध जो अनेक वैचारिक और भावात्मक आंदोलन उठे, उनमें केवल पढ़े लिखे लोग ही शामिल नहीं थे, अपढ़ किसान और मजदूर भी शामिल थे। शहर ही शामिल नहीं था, गांव भी शामिल था। अर्थात् वह समुदाय भी शामिल था जिससे लोक बनता है। मैदान, जंगल, पहाड़ सभी इलाकों में एक नयी चेतना उत्पन्न हो रही थी। यह चेतना राष्ट्रीय थी जिसमें सामाजिक जागरण का स्वर भी था और आर्थिक विषमता की पहचान की आहट भी थी। इस प्रकार लोक चेतना पारंपरिक सुख-दुःख, राग-विराग और मूल्य-दृष्टि को वहन करने के स्थान पर नये ठोस राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संदर्भों में प्राप्त सुख-दुःख, राग-विराग और मूल्य-दृष्टि से स्पदित होने लगी थी। ईश्वरीय न्याय व्यवस्था के नाम पर होने वाले सामाजिक शोषण के प्रति उसमें समझ उभरने लगी थी। इस प्रकार इस काल की लोक-संस्कृति अपनी वैचारिक और भावात्मक भूमि पर अधिक युगीन होने लगी थी। लेकिन लोक-संस्कृति युगीन संस्पर्श पाकर भी अपनी परंपरा की जड़ से नहीं कटती। सदियों से बहता चला आता मानवीय दुख-दर्द उसमें बहता रहता है। हम लोक-साहित्य के माध्यम से लोक संस्कृति की इस परंपराशीलता और युगीन चेतना की सहयात्रा की पहचान कर सकते हैं। लोक-साहित्य की एक सशक्त विधा है लोक गीत। यदि भोजपुरी लोकगीतों को आधार बनाकर बात की जाये तो ज्ञात होगा कि इसमें विभिन्न

---

१. हिन्दी साहित्यकोश, भाग १, पृ० ७४७

सांस्कृतिक अवसरों, पर्वों और ऋतुओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के लोकगीत हैं। सांस्कृतिक अवसरों में, जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि होते हैं। सोहर इस अवसर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण लोकगीत है। पर्वों में होली, दिवाली, शिवरात्रि, नागपचमी, कार्तिक स्नान तथा अन्य छोटे-छोटे त्योहार आते हैं। इन सबके लिए अलग-अगल लोकगीत हैं। ऋतुओं से सम्बंधित लोकगीत हैं—होली, चैता, कजली आदि। इसी प्रकार धोबियों, कहारों, हरिजनों आदि जातियों के अपने-अपने गीत हैं। कुछ प्राचीन कथाओं पर बने हुए लोकगीत भी हैं। ये गीत पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्यों के त्यों चले आते हैं। ये गीत हमें प्रभावित करते हैं क्योंकि इनके आलंबन थोड़े बहुत अनुपात में अभी हमारे समाज में हैं। ये गीत प्रायः मानवीय संयोग-वियोग से उत्पन्न उल्लास और वेदना तथा आलंबन और उद्दीपन के रूप में स्थित प्रकृति सौन्दर्य के हैं। इनके अतिरिक्त मांगलिक अवसरों के उल्लास तथा प्रेमेतर मानवीय वेदना के भी स्वर इनमें हैं। प्रकृति तो अनादिकाल से अपने आदिम रूप में स्थित है ही किन्तु हमारे मानवीय सुख-दुःख को जगाने वाली ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था भी बहुत कुछ सदियों से अपने पारंपरिक रूप में स्थित रहती आयी है। पुत्र जन्म का शुभ माना जाना, लड़की के जन्म का विषादकारी माना जाना, लड़की की शादी का आर्थिक और मानवीय दर्द, उसके अनिश्चित भविष्य की पीड़ा, कमाने के लिए पुरुष का परदेश जाना, वर्षों तक न लौटना, पत्नी का वियोग जन्य पीड़ा से गुज़रना, घर की आर्थिक मजबूरी, विषम विवाह, असफल प्रेम आदि न जाने कितने संदर्भ हैं जो सदियों से हैं और आज भी मिटे नहीं हैं। लोकगीतों में इनकी बड़ी मार्मिक अभिव्यक्तियां हुई हैं। इस लिए पारंपरिक प्रकार के लोकगीत आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं किन्तु अब धीरे-धीरे शहरोन्मुख लोकचेतना के लिए इनका आकर्षण कम हो रहा है। अब इनकी जगह फिल्मी गीत महत्व पाने लगे हैं। युगीन संदर्भ में यह लोक चेतना और संस्कृति के बदलाव का एक संकेत है। धीरे-धीरे लोक-चेतना व्यावसायिक और नगरोन्मुख हो रही है इस लिए वह लोकगीतों को अनाधुनिक समझ कर छोड़ने लगी है।

लोक साहित्य का बदलता रूप

इन पारंपरिक लोकगीतों के साथ-साथ आधुनिक काल में नयी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक चेतना के अनेक गीत लिखे गये। पारंपरिक लोकछंदों में नयी वस्तु भर दी गयी। कजली, बिरहा, होली, गाली (शादी के अवसर पर गाया जाने वाला गीत) आदि अनेक लोकछंदों में अनेक समकालीन प्रसंगों और चेतनाओं को रूपायित किया गया। प्रेम के प्रसंगों को गाने वाले छन्द सामाजिक और राष्ट्रीय ऊर्जा के गीत गाने लगे। साथ ही शोषित जातियों ने अपने पारंपरिक गीतों में शोषण के विरुद्ध प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न स्वर ऊंचे किये।

आधुनिक काल में लोक-जीवन की पारंपरिक स्तब्धता टूटने लगी और स्वाधीनता के पश्चात् तो उसके टूटने का क्रम बहुत तेज हो गया। गांवों में नयी राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियां और तज्जन्य प्रभाव उभरे। इसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन बहुत तेजी से बदलने लगा। शिक्षा का प्रसार होने लगा। शहरों से संपर्क घना हो गया। फलस्वरूप गांव

की अति भावात्मक मानसिकता व्यावसायिकता, उपयोगिता और बौद्धिक चतुराई से सम्पन्न होती गयी। सम्बंधों और मूल्यों में बहुत बदलाव आये। प्रकृति और पर्वों के प्रति रागात्मक लगाव कम होता गया। राजनीति के प्रभाव ने एक ओर लोक-जीवन को अपने अधिकारों के प्रति सचेत किया, दूसरी ओर उसमें भयानक टूटन, स्वार्थन्यस्तता, असुरक्षा आदि का भाव भर दिया। आज लोक-जीवन एक दूसरा ही लोक-जीवन है। चाहे भला हो, चाहे बुरा यही यथार्थ है और इसकी संस्कृति अत्यंत संक्रांत और बहुआयामी बन गयी है। नये संदर्भों में एक ओर लोक-चेतना अत्यंत जटिल बन गयी है तो दूसरी ओर स्थायी रूप में वर्तमान प्रकृति के प्रति उसका लगाव कम हो रहा है। इस लगाव की कमी का परिणाम यह हो रहा है कि जंगल, बाग, बगीचे कटते चले जा रहे हैं और खेत बनते जा रहे हैं।

लोक-संस्कृति बनाम शिष्ट साहित्य

प्राणवान शिष्ट साहित्य का लोक-संस्कृति से गहरा सम्बंध होता है। शिष्ट साहित्य की दो कोटियां देखी जाती हैं। एक कोटि व्यक्तिनिष्ठ साहित्य की है, दूसरी कोटि समाजनिष्ठ साहित्य की है। व्यक्तिनिष्ठ साहित्य में रचनाकार अपने मन में या किसी अन्य व्यक्ति के मन में उठे हुए भावात्मक उद्गारों को वाणी देता है। यदि वह रचनाकार किसी अभिजात कुल में पैदा हुआ है और आगे भी अभिजात या कुलीन लोगों के परिवेश में ही घिरा रहता है तो जाहिर है कि उसकी भावनाओं, उसके संस्कारों, उसके अनुभवों का जन-सामान्य से कहीं जुड़ाव लक्षित नहीं होगा। उसके अनुभवों या भावनाओं का सम्बंध या तो उसी से होगा या उस विशेष कुलीन वर्ग से होगा जिसके बीच उसकी जीवन-यात्रा चलती है। रीतिकाल में हम देखते हैं कि यद्यपि कवि सामान्य वर्ग में पैदा हुए थे किन्तु जीविका और यश के लिए वे राजाओं और सामंतों के दरबारों के परिवेश से बंध गए थे। इस लिए उनकी कविताओं का सम्बंध शृंगारिक भावना से जुड़ गया था और शृंगारिक भावना भी प्रायः स्थूल और उत्तेजक थी। इसका सम्बंध या तो कवियों की निजी रुचि से जुड़ गया था या दरबारी परिवेश से। लोक-संस्कृति से इसका कोई सरोकार नहीं था। यों ऊपर-ऊपर से लोक-संस्कृति के कुछ स्थूल उपकरणों का शृंगारिक संदर्भ में स्थूल उपयोग अवश्य आभासित होता है किन्तु लोक-संस्कृति की मूल चेतना यहां सर्वथा अनुपस्थित है।

आधुनिक काल में मन की ग्रंथियों को खोलने के क्रम में और एक विशेष प्रकार की आधुनिकता की समझ को रूपायित करने की प्रक्रिया में अनेक लेखकों ने अपने ही व्यक्ति या किसी अन्य व्यक्ति के बहुत सीमित सत्य को उद्घाटित किया है और चाहे इन रचनाओं के केंद्र में वह स्वयं रहा हो या कोई अन्य व्यक्ति, वह प्रायः पढ़ा-लिखा शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति ही है जिसका लोक-जीवन से कोई सम्बंध नहीं दिखाई पड़ता। इस लिए ये रचनाएं चाहे कितनी ही गहराई का आभास क्यों न देती हों, उनमें जीवन की शक्ति का अभाव दिखाई पड़ता है। इनकी गहराई वास्तविक नहीं काल्पनिक है और इस प्रकार का साहित्य एक विशेष प्रकार की मानसिकता को कुछ समय के लिए तुष्टि भले ही प्रदान करता हो उसमें न तो

बदलते हुए इतिहास के यथार्थ का ताप होता है और न इतिहास को कोई नई दिशा देने की शक्ति। इनमें जो विद्रोह दिखाई पड़ता है वह एक निषेध मात्र होता है, वह भी प्राय: यौन संदर्भों में। उसमें जीवन की सृजनात्मक शक्ति का अभाव होता है।

इसके विपरीत लोक-संस्कृति से जुड़ा हुआ साहित्य अधिक प्राणवान और स्थाई तथा गहरे प्रभाव वाला होता है। ऊपर लोक-संस्कृति के विवेचन में उसके आंतरिक और बाह्य पक्षों को तथा उनके सम्बंधों को विश्लेषित करने की प्रक्रिया में कहा गया है कि लोक-संस्कृति में एक ओर लोक-जीवन की भावात्मक और वैचारिक दुनिया होती है, दूसरी ओर रीति-रिवाज, वेशभूषा, पर्व-त्योहार और प्राकृतिक परिवेश होते हैं। शिष्ट साहित्य जब एक व्यापक यथार्थ से जुड़ने का प्रयत्न करता है तो वह शिष्ट कहे जाने वाले सीमित समाजों का अतिक्रमण कर एक बड़े समाज के पास जाता है जहां शिष्टेतर लोगों की एक बड़ी दुनिया होती है और वह साहित्य उस दुनिया के अनेक प्रकार के अनुभवों, मान्यताओं, विश्वासों, सम्बंधों, मूल्यों आदि को तो ग्रहण करता ही है साथ ही वे जिस परिवेश में मूर्त होते हैं और जिस रूप में मूर्त होते हैं उसे भी अपने भीतर समेटता है। वास्तव में शिष्ट समाज चाहे कितना भी चमकीला और तर्कसम्पन्न हो उसमें एक जड़ता होती है और लोक-जीवन चाहे कितना भी खुरदरा और विश्वासमय हो उसमें एक लोच और गति होती है, उसमें एक बहाव दिखाई पड़ता है। इस लिए जब-जब शिष्ट समाज से जुड़ा हुआ शिष्ट साहित्य जड़ होने लगता है, उसे प्राण और गति प्राप्त करने के लिए लोक-संस्कृति के पास जाना पड़ता है और यह आकस्मिक नहीं है कि साहित्य के पूरे इतिहास में वह दौर अधिक प्राणवान रहा है, जिसका सम्बंध लोक-संस्कृति के समग्र रूप से रहा है।

इस दृष्टि से भक्तिकालीन साहित्य की शक्ति देखी जा सकती है। भक्तिकालीन साहित्य भारतीय साहित्य के इतिहास में पहली बार एक आन्दोलन के रूप में लोक-जीवन से जुड़ा। भक्ति के क्षेत्र में जातिपांत, ऊंच-नीच का भेदभाव समाप्त हो गया। 'मनियत सबहिं राम के नाते सुहृद सुसेव्य जहां लौं' की भावना ने जोर पकड़ा। यह आन्दोलन एक ओर ईश्वर की व्यक्तिगत आराधना से जुड़ा था, दूसरी ओर लोकमंगल से। तुलसी ने रामचरितमानस में भक्ति का जोरदार प्रतिपादन तो किया ही, साथ ही आराध्य राम को लोकजीवन के बीच उपस्थित कर लोकजीवन की विविध आंतरिक और बाह्य छवियों का उद्घाटन किया। उन्होंने महाकाव्य परंपरा को लोक-जीवन से जोड़ कर उसे एक नया आयाम दिया और मानस को देखकर सचमुच यह कहा जा सकता है कि महाकाव्य जातीय जीवन की समग्रता की गाथा होता है, वह केवल नायक के समग्र जीवन का ही चित्र नहीं होता। तुलसी ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों माध्यमों से रामकथा का प्रसार लोकजीवन के बीच किया और उन्होंने लोक-हृदय, लोक-व्यवहार, लोक-मूल्य, लोक-विश्वास, लोक-भाषा, लोक-रीति आदि सभी से रामकथा को संवलित किया। इसीलिए मानस की रामकथा को एक अलग ही शक्ति और छवि प्राप्त हुई और वह लोक में तथा शिष्ट पाठक समुदाय में इतना प्रिय हुआ। एक सीमित संदर्भ में सूरदास ने भी कृषि प्रधान देश के नायक कृष्ण की लीलाओं को लोक-जीवन से जोड़ा। ग्वाल समुदाय

लोक का प्रतीक है और कृष्ण उसके अगुवा हैं। कृष्ण लीला की गहरी प्रभावोत्पादकता का रहस्य उसकी लोक-संस्कृति से संपृक्ति ही है। लोक-संस्कृति की बहिरंतर छवियां कृष्णलीला को प्राणवान बनाती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी के पद्मावत के सौन्दर्य का सम्बध भी लोक-संस्कृति से जोड़ा है।

निर्गुण कवियों में लोक-संस्कृति की विद्रोही चेतना का आयाम दिखाई पड़ता है। शिष्ट और कुलीन समाज ने धर्म, संस्कृति आदि के नाम पर छोटी जातियों के विरुद्ध शोषण का मोर्चा खड़ा कर रखा था। निर्गुण कवि प्रायः छोटी जातियों से आये थे। वे सही अर्थों में लोक प्रतिनिधि थे। वे इस शोषण के विरुद्ध विद्रोही चेतना का अनुभव कर रहे थे और उन्होंने धक्कामार शब्दों में उसे व्यक्त किया। कबीर में यह चेतना सबसे अधिक प्रखर थी। लोक-संस्कृति की विद्रोही चेतना (जो विश्वासों और मान्यताओं के ठहराव पर आघात कर संस्कृति को नये आयाम देती है और उसमें एक तेज बहाव लाती है) कबीर साहित्य में दिखाई पड़ती है। इस लिए हमारे साहित्य के इतिहास में कबीर साहित्य की शक्ति अनुपम मानी गयी है। भक्त कवियों ने, चाहे व्यक्तिगत साधना का क्षेत्र रहा हो चाहे सामाजिक यथार्थ का, सर्वत्र लोक-बिंबों, लोक-कथाओं का प्रयोग किया है। इससे कविता का कथ्य मूर्त होता है। वह मनुष्य के आदिम संस्कारों को सहज ही छूता है और उसके भावों को झनझना देता है।

भक्तिकाल के पश्चात् आधुनिक काल में लोक-संस्कृति से जुड़ने का प्रवाह उमड़ा। भारतेन्दु और उनके साथियों को देश और समाज के उद्धार की जो गहरी चिंता व्यापी, उसके फलस्वरूप वे लोग लोक-जीवन से जुड़े। शासन-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था की दुहरी विसंगतियों के पाट में पिसते लोक-जीवन की ओर उनकी दृष्टि गयी। महामारी, अकाल, टेक्स, चुंगी, पुलिस और अफसरशाही के जुलम, अशिक्षा, बेमेल विवाह आदि को साहित्य का विषय बनाना लेखकों की लोकोन्मुखी चेतना का परिचायक है। इस लिए एक ओर तो इन लेखकों ने लोक-जीवन की परंपरागत स्तब्धता की पहचान की, दूसरी ओर नयी स्थितियों में उसके मन के बदलाव को देखा, और साथ ही साथ उसमें नयी चेतना की हलचल पैदा करनी चाही, तीसरी ओर लोक-साहित्य के छन्दों, भाषा और पद्धतियों का इस्तेमाल कर लोक-चेतना के सम्प्रेषण को अधिक सुगम बनाना चाहा। इन्हीं विशेषताओं को देखकर आचार्य शुक्ल ने कहा कि साहित्य और जीवन के बीच जो खाई बनती जा रही थी, उसे भारतेन्दु ने पाटा।

आधुनिक साहित्य का द्वार भारतेन्दु ही खोलते हैं। और वह द्वार उनके साथियों के इस प्रकार के लोकवादी साहित्य से ही खुलता है। यह बात कही जा सकती है कि भारतेन्दु युग का यह नया साहित्य कलात्मक उपलब्धियों के शिखर नहीं छूता, किन्तु यह बात भी उतने ही बलपूर्वक कही जा सकती है कि बाद की साहित्यिक उपलब्धियों का मूलाधार भारतेन्दु काल की यह लोकोन्मुखता ही है। उसे नींव कह सकते हैं। सशक्त साहित्य की परंपरा खुरदरे जीवन के साहित्य से ही शुरू होती है, चिकने चुपड़े शिष्ट जीवन के साहित्य से नहीं।

द्विवेदी कालीन साहित्य की चेतना भी राष्ट्र और समाज से जुड़ी रही किन्तु उसने लोक-जीवन के वर्तमान की अपेक्षा राष्ट्र के अतीत गौरव को अधिक रेखांकित किया। यह सच है

कि उसने अतीत को वर्तमान के संदर्भ में काफी दूर तक पुनर्निर्मित भी किया, किन्तु वे सीधे लोक-जीवन के वर्तमान विविध प्रसंगों से कम टकराये और लोक-साहित्य की शक्तियों का भी कम इस्तेमाल किया।

लोक संस्कृति से जुड़ने का अद्भुत समारोह

भारतेन्दु काल के बाद स्वातंत्र्योत्तर काल में लोक संस्कृति से जुड़ने का अद्भुत समारोह दिखाई पड़ता है। छायावाद की कविता में निराला ही अपनी कुछ कविताओं में लोक-जीवन की चेतना से जुड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। हां, कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचद ने लोक-चेतना को शिष्ट साहित्य की शक्ति और उपलब्धि का एक प्रमुख आधार ही बना दिया। प्रेमचंद ने लोक-संस्कृति के नाम पर लोक में प्रचलित जीवन-पद्धतियों को ही नहीं लिया, बल्कि उन्होंने लोक के ठेठ लोगों—अभिशप्त किसानों, मजदूरों तथा आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से शोषित अन्य लोगों को अपने कथा-साहित्य का आधार बनाया। लोक-जीवन की सुख-दुःख की विविध संवेदनाओं का चित्रण कर उन्होंने उसकी वास्तविक स्थितियों का तो चित्रण किया ही साथ ही उसमें आने वाले चेतनागत परिवर्तनों को भी रेखांकित किया। यातना, अभाव, परंपरागत मान्यताओं, ईश्वरीय न्याय के नाम पर चलने वाले शोषण के प्रति विश्वासों का चित्रण करने के साथ-साथ लोक-जीवन में उगती हुई नयी ऊर्जा, समझ एवं विद्रोह वृत्ति को भी उभारा। प्रेमचंद के साहित्य में जो शक्ति है वह लोक-जीवन की इसी चेतना की पहचान की शक्ति है। लोक-गीतों के नये प्रयोग की ओर संकेत करके प्रेमचंद ने लोक-साहित्य को पारंपरिक संवेदना के वाहक के साथ-साथ नयी चेतना का भी वाहक बनाया। 'गोदान' में होली के अवसर पर गोबर और उसके साथियों द्वारा खेला गया स्वांग लोक-गीत के माध्यम से शोषण का फर्दाफाश करता है। प्रेमचंद ने पारंपरिक गीतों का भी प्रयोग किया है किन्तु उनसे अपने उपन्यास की किसी संवेदना को गहराया ही है। जालपा के वियोग को उसका जांटे पर गाया हुआ गीत 'हमके जोगिन बना के कहां गइले रे जोगिया' तथा होरी की बेचैनी को उसके द्वारा गुनगुनाया जाने वाला चेता 'हिया जरत रहत दिन रैन'—अधिक घनीभूत कर देता है।

प्रगतिवादी आन्दोलन ने भी अपने को लोक-जीवन और लोक संस्कृति से जोड़ने का प्रयत्न किया किन्तु उसके इस प्रयत्न में एक दर्शन के तहत मात्र एक ललक थी, गहरी अनुभूति नहीं थी। इस लिए वह लोक-जीवन और संस्कृति को स्थूल या एकांगी रूप में ही देख सका, उसके साथ गहरा तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका। यही वजह है कि उसने एक अच्छे प्रयत्न की शुरुआत तो की किन्तु उससे स्वयं कोई उपलब्धि नहीं प्राप्त कर सका।

लोक-संपृक्ति स्वातंत्र्योत्तर कालीन साहित्य की एक विशेष प्रवृत्ति भी है और उपलब्धि भी। कवियों, कहानीकारों और उपन्यासकारों के एक बहुत बड़े वर्ग ने अपने लेखन को लोक-जीवन और उसकी संस्कृति से जोड़ा। यह बात ध्यान देने की है कि आजादी के बाद गांव बहुत तेजी से बदले और शहरों का भी सामान्य वर्ग एक नयी राजनीतिक, आर्थिक और

सामाजिक समझ से अनुप्राणित होने लगा। अतः लोक से संपृक्ति का अर्थ है उसकी इस नयी चेतना और समझ से संपृक्ति तथा उसके साहित्य में जो नया बदलाव आया, उससे संपृक्ति।

लोक-जीवन और संस्कृति से गहरी संपृक्ति

लोक-जीवन और संस्कृति से संपृक्ति यहां कई रूपों में देखी जा सकती है। पहली और सर्वाधिक महत्व की संपृक्ति है लोक की नयी समझ और चेतना से संपृक्ति। इसकी सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति **आंचलिक** उपन्यासों में दिखाई पड़ती है। आंचलिक उपन्यासों की शक्ति या उपलब्धि इस बात में नहीं है कि उसमें लोक-जीवन को धारण करने वाले विविध अंचलों की आंचलिक रंगत को, उनके भावुक प्रेम-सम्बंधों को रूमानी दृष्टि से उभारा है, बल्कि इस बात में है कि उसने अंचलों के माध्यम से गांव के बदले हुए सम्बंधों, अनुभवों, समझ और मूल्य दृष्टियों को पहचाना और एक नवीन जीवन-चेतना का समग्र स्वर उभारने के लिए उन्हें परस्पर संयोजित किया। इस बदलाव के काल में नये और पुराने की अद्भुत टकराहट दिखाई पड़ती है इस लिए लोक-जीवन सरल न रह कर बहुत जटिल बन गया है। इस जटिलता की पहचान ने ही आंचलिक उपन्यासों को गहरी शक्ति दी है। रेणु ने 'मैला आंचल' में गांव के फूल-शूल, कीचड़-गुलाल सभी को एक दूसरे की पारस्परिकता में देखा। यही क्रम आगे भी चलता रहा।

लोक-जीवन और उसकी संस्कृति की इस चेतनागत पहचान के साथ ही आंचलिक उपन्यासकारों ने अंचल के माध्यम से लोक के नये पुराने रीति-रिवाजों, वेश-भूषा, भाषा और साहित्य, पर्वों त्योहारों, मेलों-हटियों और प्राकृतिक छवियों का बहुत समारोहपूर्ण उद्घाटन किया। लोक प्रकृति के रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द के न जाने कितने; सूक्ष्म-स्थूल कोमल-कठोर बिंब इन उपन्यासों में हैं और वे निरपेक्ष रूप से नहीं, मानव जीवन की सापेक्षता में नियोजित हुए हैं। इसी प्रकार अनेक लोकगीतों और लोक-कथाओं का जीवन-सापेक्षता में उपयोग हुआ है। ये सभी अलग-अलग टुकड़े नहीं हैं वरन् ये अंचल के जीवन-यथार्थ को उद्घाटित करने के क्रम में विन्यस्त किये जाने वाले कथानक के अपरिहार्य अंग बनकर आये हैं। बल्कि यह कहना असंगत न होगा कि मनुष्यों की तरह ये भी कथानक की सर्जना करते हैं। इस लिए कल्पना से बुनी जाने वाली शहरी कथाओं की एकरसता से ऊबे हुए पाठकों को इन उपन्यासों में जीते-जागते पात्र, जीते-जागते संदर्भ और वास्तविक वातावरण मिला। लगा कि उपन्यास जानी पहचानी ज़मीन से फूट रहे हैं। शिष्ट साहित्य लोक-जीवन और उसकी संस्कृति के अक्षय रस-स्रोतों का उपयोग करके कैसे शक्ति प्राप्त करता है, इसका प्रमाण आंचलिक उपन्यास हैं। स्वातंत्र्योत्तर कविता और कहानी के क्षेत्र में अनुभव की प्रामाणिकता की बात उठायी गयी। कवि अपने-अपने या जिस किसी भी परिवेश से जुड़े थे उन्होंने उसके अनुभवों को कविता में दिया। इससे कविता में एक ताज़गी आयी किन्तु इस जुड़ाव में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका लोक-परिवेश से जुड़ाव की है। शहरी मध्यवर्गीय या अभिजात वर्गीय परिवेश से जुड़ाव का भी बहुत महत्व है किन्तु ठेठ अर्थ में लोक से जुड़ी हुई कविताओं ने न केवल एकरसता तोड़ी, बल्कि कविता को उस जीवन से अनुभव के द्वारा जुड़ने के लिए प्रेरित किया जो शक्ति और

ताज़गी का अक्षय भंडार है। बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा जैसे कवियों ने छायावादोत्तर कविता को लोकोन्मुख किया था किन्तु स्वाधीनता के बाद यह लोकोन्मुखता अत्यंत सघन हो गयी। हां, यह अवश्य कहना पड़ेगा कि कविता की लोकोन्मुखता आंचलिक उपन्यासों की तरह लोक-जीवन के अनेक आयामों से जुड़ी नहीं थी, उसमें तो प्रकृति और प्रेम के संदर्भ ही प्रमुख रहे। लोक-प्रकृति और प्रेम के संदर्भों ने ही कविता को न जाने कितनी ताज़गी दी। गीतों में तो एक टटका स्वाद ही भर उठा। ठाकुर प्रसाद सिंह के 'वंशी और मादल' के गीत संथाली जीवन और गीतों पर आधारित होने के कारण ही इतनी शक्ति और ताज़गी प्राप्त कर सके। आज़ादी के बाद ऐसे गीतों की एक लहर सी आ गयी। फागुन की शाम (धर्मवीर भारती) पीके फूटे आज प्यार के (भवानी प्रसाद मिश्र) 'ओ पिया पानी बरसा' (अज्ञेय) 'माझी न बजाओ वंशी' (केदार नाथ अग्रवाल) 'गीतों से भरे दिन फागुन के आये' (केदारनाथ सिंह) जैसे अनेक गीत इस संदर्भ में देखे जा सकते हैं। इन गीतों में प्रकृति और प्रेम के रूप, रस, गंध, स्पर्श और स्वर के जो अनेक अनछुए बिंब दिखाई पड़ते हैं, उनका आधार लोक है और गीतों की गति का आधार लोकगीत हैं।

गीतेतर नयी कविता में भी परिवेश, अनुभवों, बिंबों, शब्दों आदि के रूप में लोक-जीवन का गाढ़ा रंग लक्षित होता है और यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि नयी कविता की छवि, शक्ति और उपलब्धि के आधारों में से एक मुख्य आधार है लोक-जीवन और संस्कृति से उसकी गहरी संपृक्ति।

हिन्दी कविता में नयी कविता के बाद फिर एक दौर ऐसा आता है जिसमें कविता लोक-जीवन और उसकी संस्कृति से कट जाती है और इस लिए उसका यह हश्र होता है कि वह काव्येतिहास का एक निष्प्राण अध्याय बनकर चुक जाती है। किन्तु उसके बाद फिर कविता लोक से जुड़ती है किन्तु यह लोक नयी कविता के प्रेम और प्रकृति वाला लोक नहीं है वरन् नयी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समझ और तेवर के साथ शोषण के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ लोक है। इस लिए इस लोक से जुड़ने वाली कविता में विद्रोह की चेतना है। यह विद्रोह केवल किताबी नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक परिवर्तन से गुजरने वाले लोक-जीवन की पहचान से आया है—इस लिए अधिक प्रामाणिक और गहरा है। लोक-जीवन में हर स्तर पर जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनकी आहट आजके समूचे साहित्य में मिल रही है। यह आहट जितनी ही सच्ची और प्रामाणिक होगी, साहित्य उतना ही प्राणवान और टिकाऊ होगा।

———

साक्षी रहे वर्तमान का काव्य संसार

—राज कुमार

साक्षी रहे वर्तमान काव्य संकलन से गिरिजा कुमार माथुर की कविता ने एक नया स्वर प्राप्त किया है। प्रकृति, प्रणय तथा प्रयोगधर्मिता से हट कर लिखी गई इन कविताओं में भावुकता की अपेक्षा बौद्धिक पक्ष का प्राधान्य है। कविताओं में सामाजिक तथा राजनीतिक यथार्थ परत-दर-परत उघड़ता गया है। संकलन के आवरण के अनुसार गति ील जीवन की आंतरिक तथा बाह्य विसंगतियों का गहरा स्पंदन इन कविताओं की विशेषता है। समय के क्षिप्र वेग में बनते-मिटते मूल्यों को चित्रित करते हुए कवि ने संघर्ष के स्वस्थ तेवर को अपनाया है।

ये कविताएं फैंटेसी-विधान को अपना कर लिखी गई हैं। इसी कारण 'भीतरी नदी की यात्रा' की कविताओं से ये कविताएं अधिक जटिल, संश्लिष्ट तथा दुरूह हो गई हैं। सामाजिक असंगति और व्यक्तिगत आंतरिक द्वन्द्व को ध्वनित करने के लिए कवि ने संश्लिष्ट बिम्बों का प्रयोग किया है। इन बिम्बों की निर्मिति विरोधी भावों तथा विचारों के संपुंजन से हुई है। यही कारण है कि बिम्बों की परतों को उघाड़ने पर आंखों तथा मस्तिष्क को चुभने वाली विसंगतियों, विद्रूपताओं और कटुताओं से साक्षात्कार होता है। बिम्ब की अर्थवत्ता बहुआयामी हो जाती है।

सामाजिक और शासकीय ढांचे की जटिलता पर क्रूर व्यंग्य करने के लिए कवि ने ऐसे ही बिम्बों का उपयोग किया है। इसी संदर्भ में 'एक अधनंगा आदमी' कविता के इस उद्धरण को देखा जा सकता है—

"सीधे में धूर्त, शरीफ में छंटा हुआ गुंडा/
चमड़ी–में दमड़ी में दलाल–में/
नेता में—/ ब्लैक-मेली मुस्टंडा/
आस्तिक में नास्तिक / शेर में भुस मिट्टी–में/
घिघियाती बकरी की अहिंसा/—में चाकू/

संत में ढपोरशंख, त्याग में घाघ/
खुले आम लूट में साहूकार—में डाकू/ ''

स्पष्ट है कि कवि ने विरोधी विचारों तथा आचरणों की पांतें जोड़ दी हैं। कवि ने अनुभव किया है कि प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के विरुद्ध षड्यंत्र रचा जाता है क्योंकि प्रतिभा के सामने गद्दीदार गावदी हो जाता है। कवि सत्ताधारी शासकों के षड्यंत्र में पिसते हुए प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति की पीड़ा को अभिव्यक्त करता है—

''इंटरव्यु में / चेयर में फेयर–में /
सिफारिश माने योग्यता /
अक्ल और काबलियत, मौलिकता और साहस /
इनीशेटिव याने श्योर जूते खाने का नुस्खा /
क्योंकि प्रतिभा के सामने हर गद्दीदार गावदी।''

कवि मानता है कि सूदखोरों, भ्रष्टाचारियों तथा फंड चाट जाने वाले नेताओं ने देश की तरक्की को अर्थहीन कर दिया है। देश तरक्की के क्रॉसिंग के इधर-उधर अटका खड़ा है और मामूली सा फाटक खुलते ही सहज जन-जीवन में हलचल मच जाती है। इस संदर्भ में 'सड़क से देश-दर्शन' कविता से उद्धरण लिये जा सकते हैं—

''—यह क्रॉसिंग है—
गुमटी का फाटक / शायद मेरे बाप की पैदायश से बंद है/
रहेगा दो-हजार तक / चाबी खो गई है /
एक नेता-नुमा आदमी भागता है इधर-उधर।''

शासकीय अव्यवस्था इतनी असाध्य हो गई है कि बेकारी, बीमारी और दिन-ब-दिन बढ़ती हुई बेशरमी पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता और लोग जातीयता के झूठे दंभ से ग्रस्त कोढ़ खाई सामाजिकता को ढोए जा रहे हैं—

''व्यर्थ नौकरी तलाशते / पढ़े-अधपढ़े लड़के/
सड़क के किनारे ' लाइन लगा बैठी/
बेशरम घाघरा फैलाए / सुबह-शाम लुगाइयों की पाँत
कोढ़ खाई सामाजिकता / आदतन घूंघट काढ़ असभ्यता/
जातीय शील के खोखले ढोल पर / गंवार असलियत की थप्पड़/
लोगों की दुर्गंध अब भी हाथों से समेटती / सदियों से
अपमानित अस्पृश्यता''

क्रॉसिंग का फाटक थोड़ा-सा खुलने पर अफरातफरी मच जाती है। छुरेबाज़ों तथा गुण्डों की रेलपेल हो जाती है परन्तु संकल्पहीन कायर भीड़ इन गुण्डों का विरोध नहीं कर पाती—

''बसों-ट्रेनों पर बदमाश सवारियों की लुट्टस/
अचानक अर्राती है / एक छुरेबाज़ रेल-पेल/

गंसे हुए संकल्पहीन / कायर समूह पर/
एक और दुर्घटना / राष्ट्रीय हो जाती है"

'अंधेरी दुनिया' में अलग-अलग शीर्षकों की बीस कविताएं हैं। ये कविताएं भाव की अपेक्षा विचार के स्तर पर परस्पर अनुस्यूत हैं। अकेलापन, असमर्थता, निरर्थकता, उजाड़ गांवों की विपन्नता, महत्वाकांक्षाओं से ग्रस्त लोगों में मूल्यहीनता को रेखांकित करते हुए कवि ने सामाजिक और राजनीतिक विकृतियों का चित्रण किया है। कुछ चित्र देखे जा सकते हैं —

"ठर्रा पिए बदमाश / दलाल, स्मगलर, छुरेबाज़/
जागती है मुजरिम रात"

× × ×

"शहर के हलक-सूखे प्यासे स्वप्न / बड़ी-बड़ी लिप्साएं/
घनी बस्तियों से बेहद उलझे सवाल/
आगे बढ़ने की ख्वाहिशें / दांवपेच, राजनीतियां,
हमेशा भूखी-महत्वाकांक्षाएं"

कवि ने पृथकतावादी राजनीति और रुपए के अवमूल्यन पर भी दृष्टि गड़ाई है—

"प्रांतवाद, भाषावाद, गुर्गावाद/
कितने ही किस्म के लफ्जी समाजवाद"

× × ×

हर चीज का माप छोटा हुआ जाता है/
गिलट का पैसा भी / फूंक से उड़ जाता है"

और कवि समझता है कि शिकायती पत्र लिखने का कोई अर्थ नहीं रह गया है। इसी कारण वह मिल-मज़दूर को ललकारता है—

"शहर सिर्फ शिकायत है / शिकायत घिघियाती है/
शक्ति मांगी नहीं / छीन ली जाती है"

कवि ने दफतरी दुनिया का कच्चा चिट्ठा भी प्रस्तुत किया है—

"विश्वास के भुलावों में / पीछे से छुरा भोंक कर/
औरतों के जिंदा मांस की / —सीढ़ियों के सहारे
बॉस के कान पर हरदम / चुगलखोर मच्छर से /
ऊपर चढ़ गए हैं निर्णायक बनकर / प्रतिभा को लात मार कर/
मैं / तड़पती मछली सा —/ फैंक दिया गया हूं......"

कवि ने सत्ताधारियों के वास्तविक व्यक्तित्व को भी उभारा है—

"जहां तिकड़मी लफंगे / सत्ताधारी हैं/
चूर हैं वातानुकूलित ऐयाशी में / सरे आम पुजते हैं
कामयाब बेईमान"

परम्परागत भारतीय मानवीय तथा सामाजिक मूल्यों का ह्रास इस हद तक हो गया है कि—

"जहां सचाई दंडनीय है / सही बात कहने का साहस/
संगीन अपराध है"

काफ़ीहाउसों में बैठे लफ्जी क्रांति करने वाले कवियों और बुद्धिजीवियों की ओर भी कवि ने क्रूर दृष्टि डाली है—

"वे कंकालों का वर्णन / बहुत अच्छा कर सकते हैं/
पर जिंदा कंकालों को देख नहीं सकते/
वे विद्रोही कलाकार हैं / वक्त आने पर / कहीं और चले जाएंगे"

ग्राम्य जीवन में आ गई अर्थलोलुपता के अहसास से कवि पीड़ित है। सरकारी योजनाओं की निष्ठा और सरकारी तंत्र के बीच के विरोधाभास का सुन्दर चित्रण करते हुए कवि ने ग्रामीणों की भाग्यवादी प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है। यही भाग्यवादिता ग्रामीण को संघर्षहीन बनाती है और अन्याय तथा भ्रष्टाचार का कारण बनती है—

"सिर्फ एक मुट्ठी नाज / पूरा सूखा था खेत/
खाद हुई ब्लैक / नहर हुई रेत/
आदमी और गोबर / कहीं दोनों थे एक/
गांव गुमसुम खड़े / मान किस्मत की रेख"

शहरों में भी कल्याण योजनाओं की गति ऐसी ही है! वहां भी लोग तटस्थ हैं और बहुत हद तक उपयोगितावादी हो गये हैं। वर्षों तक अनुपयुक्त पड़े रहने वाले पानी के बड़े-बड़े पाइपों का उपयोग कैसे हो रहा है? दर्शनीय है—

"खाली पड़े-पड़े पाइप / अब ठसकर बस गए हैं - /
खारिज शुदा लावारिस लोगों से"

हिप्पी सभ्यता तथा सैक्सलिबरेशन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के विपरीत है। कवि मानता है कि भारतीय जीवन में सैक्सलिबरेशन तो व्यभिचार की ही नयी परिभाषा है। कवि ने नगरबोध का भी चित्रण किया है। उसके अनुसार नगर में द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति पंगु हो जाता है—

"मुझसे मेरे भीतर का / गांव जन्मा सहज प्यार ले लिया है/
न बड़ा काम करने दिया है / न छोटा होने दिया है"

इस तरह इन बीस कविताओं में कवि ने गांव, शहर और नगर की सभ्यता को उकेर दिया है। साथ ही साथ कवि की जीवन दृष्टि भी उभर कर सामने आई है।

कवि यह मानकर चलता है कि सामाजिक रिश्तों का विरूपीकरण हुआ है। बधुत्व की भावना, सह अस्तित्व की कामना, सहज सहानुभूति और बड़प्पन की शर्म आदि मूल्य भ्रष्ट हो गए हैं। सम्बंधों का आधार आमूलचूल बदल गया है—

"सम्बंधों के तरीके / इधर और भी बने हैं नए/
सम्बंध जैसे होते हैं / बदमाशों के गिरोह में/

समझौते चोर चोर में / काले धन में रिश्वतखोर में/
सौदा करवाते दलाल में / स्मगलर, हाकिम और ठेकेदार में/
नेतागिरी में / राजनीति के बिक्री बाजार में/
चौतर्फा लूट-खसोट में / आंख कान मूंदे / गद्दियां बचाते
सत्ता चिपकू में ।"

सम्बंधों के इस बदले हुए रूप ने समाज में अफरातफरी पैदा कर दी है। फिर भी कवि निराश नहीं है। उसे विश्वास है कि आदमी के भीतर का दर्द इन सम्बंधों को ललकारेगा—

"तुमने जिसे समझा है / बेजुबान कठपुतली/
वह हाड़ मांस की सबसे बड़ी ताकत है/
आज नहीं तो कल / जल्दी ही समझोगे/
जनता को आखिरी बात कहने की आदत है"

कवि ने माना है कि बुजुर्ग पीढ़ी ही युवावर्ग को भ्रष्ट कर रही है। वह युवावर्ग की शोषण विरोधी प्रतिक्रिया को किसी न किसी तर्क से झुठला देती है। और जब युवावर्ग उठेगा तो बुजुर्ग पीढ़ी को अपने पापों का फल भोगना पड़ेगा। 'निर्णय का क्षण' कविता की अंतिम पंक्तियों में कवि का यह विश्वास और अधिक प्रदीप्त होकर सामने आता है—

"निणय का क्षण है / हवा में है इन्कलाब
वह दिन नहीं है दूर / जब बुजुर्ग पीढ़ी को/
अपने ही बच्चों के सामने/
अपने हर पाप का / देना पड़ेगा जवाब।"

'इतिहास के जर्राहों से' कविता को कवि ने विचार-कोलॉज कहा है। नेता की दल-बदलू प्रवृत्ति पर कवि ने कटाक्ष किया है और कवि मानता है कि अनुभव की राह पर से गुजरे बगैर परिपक्वता नहीं आती। इसी कविता में कवि ने संघर्षच्युत तथा निरर्थक संघर्ष में लीन अतीतजीवियों पर तीखा व्यंग्य किया है—

"अब तुम / अपने अधेड़ वर्षों के प्लांचेट पर/
बुलाते हो पुरानी रूहें / खंडहरों से करते हो बातचीत/
प्रेतों से कायम किया है संवाद / अब तुम्हें हर जगह/
कच्ची दारू पिए / सिर्फ भुतहे पेड़ नज़र आते हैं"

वह दिशाहीन विरोध को व्यर्थ मानता है—

"लंगोटा कसे खड़े-खड़े ताल ठोकते रहे/
चुनौती देते रहे खाली हवाओं को/
ललकारते रहे बार-बार / किसी अदृश्य प्रतिद्वन्द्वी को/
पर अफसोस, / दूर दूर तक वहां था / न आदमी न आदमज़ाद"

कवि को प्रतीत होता है कि कहीं न कहीं कविता की भाषा पंगु है और सही कवि को इसकी पूर्णता के लिए यत्न करना है। उसने कवि को चारणीय प्रवृत्ति से बचने का भी संकेत किया है—

हमारे शब्द नहीं हैं खोखले भोंपू / जिनमें से किसी गैर
की आवाज भरमाए/
हमारे शब्द स्वयं हम हैं / हमारे आखिरी निचोड़"

× × ×

"हमने नहीं गाईं / इनामी प्रशस्तियां / न लिक्खे कसीदे"

× × ×

"हम खड़े रहे भाषा के उस असाध्य मोर्चे पर /
जहां आदमी को आदमी पत्थर को पत्थर कहना /
बड़े जिगरे का काम है"

इस सारी हताशा के बावजूद कवि को पूर्ण विश्वास है कि यह सारी आंधी तथा धुंध कुछ समय के लिए ही है अ्ततः इसे साफ होना है।

"ऐसा अक्सर हो जाता है / अदा किए हुए पार्ट आपस में
बदल जाते हैं / कत्ल किए हुए नाम फिर जिंदा हो जाते हैं /
जो कल थे जज / वही मुजरिम हो जाते हैं"

मौजूदा स्थिति में कवि का यह विश्वास यूटोपियाई ही प्रतीत होता है। फिर भी कवि ऐसी स्थिति को पैदा करने के लिए उद्बोधन करता है—

"सहन करने की हद भी / एक दिन टूट जाती है/
जब कुछ नहीं होता / तब क्रांति हो जाती है"

पुराण पिशाच के देश में

'साक्षी रहे वर्तमान' संकलन की अंतिम महत्वपूर्ण कविता 'पशु परम्परा' फैंटेसी और मिथक की आवर्तों में ग्रथित आदिम काल से आधुनिक काल तक सतत विद्यमान जातीय शोषण की गाथा है। 'ब्रह्मराक्षस' की बावली के वातावरण जैसा वातावरण बनाता हुआ कवि एक गुफा की कल्पना करता है। इस गुफा में मुक्तिबोध के ब्रह्मराक्षस की बजाए एक पुराण पिशाच रहता है। मुक्तिबोध का ब्रह्मराक्षस ज्ञान की परतों को खोलता है और निष्क्रिय, अभिशप्त जीवन भोग रहा है जबकि 'पशु परम्परा' का पुराण पिशाच शोषण के विचित्र हथकंडे अपनाता हुआ अभिशप्त जीवन भोगने के लिए लोगों को विवश करता है। ब्रह्मराक्षस अकेलापन भोगने के लिए अभिशप्त है। पुराण पिशाच अकेलेपन को तोड़ने के लिए कृत संकल्प है। पुराण पिशाच अपने अकेलेपन का कारण स्वयं ही है। नरभक्षी पुराण पिशाच की गुफा में से गंध भरा धुआं उठता रहता है। गुफा में रिस-रिस कर आने वाले लालखौरे पानी ने सूख रहे सफेद जल प्रपात का स्थान ग्रहण कर लिया है। 'ब्रह्मराक्षस' की बावली के गिर्द का सूनापन कवि-

कल्पित है जबकि माथुर के पुराण पिशाच की गुफा के गिर्द का सूनापन सकारण है। नर-भक्षी पिशाच के करीब आबादी कैसे रह सकती है ? पुराण पिशाच काले जादू के सहारे लोगों को आकर्षित करता है परन्तु चमत्कारों और पिशाच के स्वभाव से आतंकित भीड़ उसके पास नहीं फटकती —

> "सभी के परोक्ष मन में / खोखला आभास था/
> किसी अदृश्य प्रेत के आसपास होने का"

कवि ने काले जादू की विभिन्न प्रक्रियाओं को बिम्बीकृत करने का अवसर हाथ से नहीं जाने दिया—

> "खूंटियों पर टंगे टंगे / जल पड़ते कपड़ों में/
> अपने आप चर्राकर खुलते / बंद होते, पुराने किवाड़ों में/
> बिष्ठा बनते परोसे खानों में"

कहने की जरूरत नहीं कि धार्मिक श्रद्धा के पैदा होने से पहले आदि-मानव ने काले जादू के द्वारा ही प्रकृति और जीव-जन्तुओं को अपने वश में करने का यत्न किया था। काले जादू की गिरफ्त में फंसा उड़ने वाला तथा रेंगने वाला हर जीव-जन्तु पुराण पिशाच की सांस की लपेट में आकर उसके मुंह में चला जाता है। इसी कारण गुफा के करीब सूनापन व्याप्त हो जाता है। इसे शोषण का आदिम रूप माना जा सकता है। फिर वर्षों तक सुनसान वीराना और स्तब्धता रहती है। कभी कभार यह स्तब्धता टूटती है—

> "अनहोनी आशंकाओं का सन्नाटा / जो भग होता था सिर्फ
> एक बार दिन में / बलि को जबरन घसीट लाए जाते हुए/
> किसी अवाम नर-पशु के / कंठ फटे रोदन से/
> गुंबदों की गूंज जैसे / हत्या मंत्रों के अनवरत हुंकारते
> अभिचारों से / गर्दन कटने में अर्धचीख की हुचक/
> खांडे की धातु खड़क"

नर-बलियों का यह क्रम वर्षों तक चलता रहता है। इसी कारण गुफा के गिर्द व्याप्त सूनापन जस का तस बना रहता है। लेकिन पुराण पिशाच सूनेपन को समाप्त करने के लिए षड्यंत्र रचता है न कि ब्रह्मराक्षस की तरह निष्क्रिय होकर गंभीर ज्ञान-गवेशणा में फंसा है। पुराण पिशाच काले जादू का सहारा लेता है और एक दिन अचानक ही गुफा के मुख से हजारों फूल बरसने लगते हैं। हर फूल में एक अपरिचित गंध है—

> "हर पंखरी पर / लिखे चित्रों में / अनसुने मंत्र/
> शब्द, नारे, भावी के अलभ्य सपने"

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहीं से कविता में राजनीतिक स्वर मुखरित होने लगा है। लोगों पर फूल-वर्षा के इस चमत्कार का प्रभाव उलट ही पड़ता है। वे आतंकित हो जाते हैं और अपने आप में दुबक जाते हैं। किसी अनिष्ट की कल्पना से गुफा से दूर ही रहते हैं। तब

पुराण पिशाच का जादुई क्षेत्र और विस्तृत होता है। ये मंत्र-फूल सारे शहर में गिरने लगते हैं। इन फूलों की अजीब गंध को सूंघ कर लोग बेहोश हो जाते हैं—

"जिसने सूंघा / उसकी आंखें झिपीं / दिमाग हुआ सुन्न"

धीरे-धीरे लोग इस चमत्कार के अभ्यस्त हो जाते हैं और पुराण पिशाच के षड्यंत्र को अदेखा करने लग जाते हैं—

"गायब चीज़ों का अभाव सब भूल गए/
भूल गए कि लोग अब सिर्फ चींटी हैं, चीज़ हैं"

पुराण पिशाच का षड्यंत्र सफल हो जाता है और एक नया माहौल जन्म ले लेता है —

"सिर्फ हज़ारों फूल मंत्र थे / झंडों, दीवारों पर लिखे कद्दावर
नारे थे"

अभी तक कुछ लोग बचे हुए हैं जो फूल-मंत्रों के रहस्य को जानते हैं। वे भीड़ को सचेत करते हैं। परन्तु भीड़ के इन सचेतकों का हश्र क्या होता है? देखें—

जिन्होंने दी थी चेतावनी / कि फूल मसनवी हैं/
नकली हैं सभी आश्वासन / नक़ली हैं हिस्टीरिया उठाने
वाली खुशबूएं / वे कंठ घोट दिए गए / कुचल कर उन्हें
भूल गए लोग / समूहों के हडकंपी शोर में"

फूल-मंत्रों को जपती हुई भीड़ गुणा की ओर बढ़ती है। पुराण पिशाच अपने षड्यंत्र की सफलता पर संतुष्ट है। श्रद्धालु-भीड़ चमत्कार देखने के लिए उत्सुक है—

किसी खंड से / श्रद्धालु पिछलग्गू आवाज़ / लहराई थी/
कि होगा अब चमत्कार / और बड़ा चमत्कार"

और पुरानी रिवायत के अनुसार चमत्कार होता है। अचानक गुफा से भायं भायं की आवाज़ निकलती है। श्रद्धा एकदम आतंक में बदल जाती है। जादू से कीलित से लोग स्तब्ध रह जाते हैं—

"लोगों को फिर इतना ही रहा याद / कि बेजान गुफा के मुहाने से/
बाहर आई थी / एक बड़ी भयंकर सेना / आदमीनुमा पशुओं की/
सिर मेढ़ों के थे / पांवों में खुर थे / बाकी देह इंसानी"

ये मेढ़ेनुमा आदमी जितने मिथकीय हैं उससे कहीं अधिक अप्रस्तुतों के प्रतीक हैं। यह सेना भीड़ को घेर लेती है। तभी गुफा से निकलने वाला धुआं धीरे-धीरे पतला पड़ता है और एक आकार प्रकट होता है—

"धुआं हुआ पतला / आकार मंद मंद प्रकट हुआ / उठाए एक
हाथ / भीड़ के सिर पर / बहुत ऊपर / फिर आ गया था
एक और नया ईश्वर।"

नये ईश्वर का जन्म होता है। भीड़ में हड़कंप मच जाता है। सारे मौलिक रिश्ते-नाते टूट जाते हैं। अभयदान की मुद्रा में मूक खड़े ईश्वर की अगवानी के लिए भीड़ में से ही कुछ लोग निकल आते हैं—

'कुर्तीधारी घुटमुंड लाखों तगड़े लौंडे / चीख पड़े एक साथ/
हे ईश्वर, बोलो आदि-शब्द / अपनी प्रथम भाषा के"

तब नर-भक्षी पुराण पिशाच ईश्वरीय रूप में अपना परिचय देता है—

"उसने कहा, / मैं असली मसीहा हूं / पृथ्वी का/
अवतार नहीं / ईश्वर हूं / लोग चिल्लाए / ईश्वर ! ईश्वर !!"

भीड़ से मान्यता प्राप्त इस ईश्वर को अब तक का लिखा इतिहास तथा ज्ञान-ग्रंथ झूठे प्रतीत होते हैं। उसके निर्देश पर पुरानी इमारतें गिरा दी जाती हैं। ज्ञान की पोथियां फाड़ कर जला दी जाती हैं। उसी के कथन अखबारों में छपने लगते हैं। उसी के कथनों को रूप-भेद से लोग लिखने-पढ़ने लगते हैं। इस नये ईश्वर के निर्देश पर उसके सभी प्रतिद्वन्द्वियों को मौत के घाट उतार दिया जाता है या कालकोठरियों में बंद कर दिया जाता है—

"उसने कहा / दुनियां में सिर्फ रंग मेरा हो/
मुझसे फरक / सारे रंग–खत्म हों"

× × ×

"लाखों सिर कट गए / धड़ों को उठाए लोग / भाग पड़े/
भक-भक निकलते खून के फव्वारों से / रंगने लगे/
हर मकान, गांव, नगर / देश, देश"

× × ×

"सारी दुनियां–तहखानों, कत्लगाहों, पागलखानों में कैद हुई।"

अंततः यह सारी मिथकीय फैंटेसी उघड़ कर सामने आ जाती है—

"इसी तरह / कोई भी उसे नाम दो / हर बार/
नई-नई शक्लें धार / वह पिशाच / बलि लेने आता है/
हर बार / लोगों को मेढ़ों में बदल जाता है"



सम्पूर्ण काव्य-संकलन में तनाव, संत्रास, कुंठा, व्यवस्था-विरोध, जातीय निर्वीर्यता और विभाजित व्यक्तित्व की सरणियों को उकेरने का सफल प्रयत्न हुआ है। कवि ने रचनाधर्मिता को ईमानदारी से निभाया है। भाषा, शिल्प, अप्रस्तुत-विधान की दृष्टि से यह काव्य संकलन माथुर की कविता-यात्रा में एक नया आयाम स्थापित करता है। लगता है कवि ने धारा के किनारे न बैठकर धारा में प्रवाहित होकर ही ये कविताएं लिखी हैं। सामाजिक यथार्थ को उजागर करने के साथ ही साथ कवि ने भारत की राजनीति पर भी करारे व्यंग्य किये हैं। कुल मिलाकर यह काव्य संकलन नयी कविता को नये तेवर देने में प्रशंसनीय योगदान दे पाया है।

————

पचास साल की राजनीति का साक्ष्य : अनित्य

—डॉ० अनिल गोयल

'चित्तकोबरा' की ख्यातिप्राप्त कथालेखिका मृदुला गर्ग का उपन्यास 'अनित्य' पूर्व प्रकाशित उपन्यासों 'उसके हिस्से की धूप', 'वंशज', 'चित्तकोबरा'—से अलग पहचान स्थापित करता है। लेखिका ने पिछले पचास साल की ह्रासोन्मुख राजनीति का चित्रण यायावरी अनित्य, प्रतिपल अपनी चुप्पियों से अकुलाने वाले अविजित, तर्कशील काजल बनर्जी मौके का फायदा उठाने वाले सरण जैसे पात्रों के माध्यम से किया है। इन्हीं के बीच तीन प्रतिक्रियावादी पात्र हैं : कामरेड प्रभा, चड्डा और कैलाश राव। भारतीय राजनीति के सारे ताने-बाने को उधेड़ती मृदुला गर्ग यहां यशपाल से टक्कर लेती दिखाई देती हैं।

उपन्यास में राजनीति के दो रूप हमारे समक्ष उभरते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए लालायित क्रांतिकारियों की राजनीति और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात उसे भोगने वाले राजनेताओं की राजनीति। क्रांतिकारी वर्ग की राजनीति के भी दो रूप हैं। गांधी तथा उसके अनुयायियों की अहिंसाधारित राजनीति और आतंकवादी क्रांतिकारियों की राजनीति।

भारतीय संस्कृति के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने आचार-व्यवहार तथा कर्म से सम्मानित होता है। गांधी को राष्ट्रपिता तथा लोकनायक के रूप में भी इसीलिए जाना जाता है क्योंकि वह सिद्धान्तवादी थे, अहिंसावादी थे और देश को स्वतंत्र करवाने में अपने आत्मिक बल के आधार पर उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उसी लोकनायक गांधी को उन्हीं के सिद्धान्तों और अहिंसावादी जीवन-संदर्भों में गर्ग ने परखने का प्रयास किया है।

स्वतंत्रता पूर्व गुलाम सा जीवन जीने वाले भारतीय जनमानस का विवेक बौना और बुद्धि कुंठित हो चुकी थी। भारतीय युवक में लड़ने मरने की क्षमता थी लेकिन उसका उपयोग वह अपनी परतंत्रता की बेड़ियां काटने के लिए नहीं बल्कि सत्ताधारी ब्रिटेन को और परिपुष्ट करने के लिए करता था। विवेकहीन भारतीय वह सब करता था जो उससे करवाया जाता था—"ब्रिटेन की हार को जीत में बदलने के लिए वे हिन्दुस्तानी हाथों में हथियार पकड़ा सकते हैं पर हिन्दुस्तान की हिफाजत के लिए नहीं।" इस प्रकार जनता को पंगु बना देने वाली

परिस्थितियों में जनता में सुप्त विवेक को जगाने की तथा जनक्रांति लाने की आवश्यकता थी और यह काम एक नेता की अगुवाई से ही संभव था। इसीलिए गांधी को नेता ही नहीं भगवान् तुल्य सम्मान दिया गया—"…पर देश को आज़ाद करवाने के लिए जनक्रांति की जरूरत थी और जनमानस को भगवान् की, इसीलिए इसके सिवा कोई विकल्प नहीं था कि 'क्यों' पूछना छोड़कर भगवान् के आदेशों का मूक पालन किया जाये।"

गांधी अहिंसात्मक क्रांति में विश्वास करते थे सशस्त्र क्रांति में नहीं। गांधी समझौते में विश्वास करते थे और यह समझौता आज़ादी की राह में व्यवधान भी डालता था क्योंकि तलवार के सामने ज़बान लड़ाने से काम नहीं चलता। गांधी के व्यक्तित्व और अस्तित्व की इस द्विमुखी भूमिका का विश्लेषण करते हुए जननायक करार दिए जाने वाले गांधी से आतंकवादी भगतसिंह को गर्ग ने अधिक ऊंचे स्थान का अधिकारी घोषित किया है—गांधी ने कराची में स्वयं कहा था, "इतनी जनजागृति मैं दस वर्ष में नहीं ला पाया जितनी भगतसिंह को फांसी लगने से पैदा हो गयी।" गर्ग का यह भी मत है कि अगर भगतसिंह कुछ दिन और जिंदा रहे होते और युवावर्ग का नेतृत्व कर पाते तो शायद १९३२ से १९४२ तक के वे दस साल समझौतों की नजर न होते और देश के युवक अपने को बुरी तरह दुविधाग्रस्त न पाते। तब शायद आज़ादी कुछ ठोस अर्थ लिए आती। चूंकि व्यक्तिपूजा के जहर ने आम आदमी को नपुंसक बना दिया था सो यह संभव न हो सका।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि 'करो या सहो' की प्रक्रिया पर ही समाज का रूप आश्रित होता है। अहिंसावादी गांधी ने भी संक्रमणकाल में जो प्रेरणा दी उसके फलस्वरूप भारतीय 'सहते' आये और अंग्रेज 'करते' आये। हमारी सहनशक्ति हमारी ही कमजोरी की परिचायक बन गयी "कमजोर का जुल्म…कमजोर पर जुल्म…सहो या करो! क्या समर्थ की सामर्थ्य इसी में है कि कमजोर पर जुल्म करे! जो सह ले वही कमजोर, जो कर ले वही समर्थ? हजारों सालों से चला आ रहा मानव इतिहास बस यही सिखाता है? जिसे जुल्म करने का मौका न मिला वह कमजोर हो गया। हम…हमारा देश क्या इसीलिए कमजोर बना…क्योंकि जुल्म नहीं किया।" गांधी के कहने से हम शांति का राग अलापते रहे और परतंत्रता की आंच तले सुलगते रहे। ऐसे में यही अनुभव करके रह जाते थे कि स्वतंत्र नीति निर्धारण का अधिकार योरोपीय देशों का पुश्तैनी हक है, आजादी उनकी बपौती है।

अहिंसा तभी सार्थक होती है जबकि वह नफरत को कम करे, प्रेम बढ़ाए तथा सफलता का मार्ग सुझाए। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो अहिंसा वक्त की बरबादी तो है ही कई बार अपनी बरबादी का कारण भी बन सकती है—प्रतिक्रिया की अनिवार्य प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति न होने पर, मनुष्य का मानसिक सन्तुलन गड़बड़ा सकता है। "अहिंसा नफरत को कम नहीं करती, बढ़ावा देती है, निकास न पाने पर दिल के कोने में जमती चली जाती है और फिर एक दिन जब विस्फोट होता है तो बहुत कुछ और चाहत के काबिल जल कर राख हो जाता है।" ऐसा भी नहीं कि चिंतनशील गांधी इस बात से परिचित नहीं थे कि उनकी अहिंसावादी नीति

देश के लिए सांघातिक भी हो सकती है। इसीलिए 'अनित्य' के गांधी युवकों को क्रान्ति लाने के लिए अन्य मार्गों का अनुसरण करने का उपदेश भी स्वयं देते देखे जा सकते हैं— "जब मैं मरूंगा तो मेरी जबान पर अहिंसा ही होगी लेकिन जिन मायनों में मैं इससे बंधा हुआ हूं आप नहीं बंधे इसलिए आपको अधिकार है कि आप दूसरा कार्यक्रम बनाकर देश को आजाद कर लें।"

समझौता राजनीतिक संग्राम का आवश्यक अंग है और अहिंसावादी बनने के लिए भी समझौता अनिवार्य हो जाता है। गांधी स्वीकारते थे "समझौता मेरे स्वभाव का अंश है" और आतंकवादी भगतसिंह इसे स्वभाव नहीं मात्र अगली लड़ाई के लिए लिया गया अवकाश मानते थे। मृदुला के अनुसार गांधी ने जो समझौता अपनी जनता के साथ क्रांति लाने के लिए किया वह तो ठीक था परन्तु जो समझौते वे लार्ड इर्विन या सत्तारूढ़ लोगों के साथ करते रहे वे कायर गांधी-मानसिकता के द्योतक थे। ब्रिटिश अधिकारी गांधी की इस द्विमुखी समझौतावादी नीति के ज्ञाता थे अतएव वे उन्हें तथा उनके अनुयायियों को कुछ अरसे की कैद में छूट देकर समझौता कर लेते थे और आतंकवादी या गैर-समझौतावादी क्रांतिकारियों के गले में फांसी का फंदा डाल देते थे। इधर कायर जनता हर शहीद की फांसी के बाद गांधी से किसी अन्य समझौते की मांग करती थी—"आज़ाद के बाद लोग उखड़े पेड़ की पोली धरती पर ही मालाएं चढ़ा जाते हैं, अब कुछ दिन बाद भगतसिंह और उनके साथियों को फांसी हो जायेगी।...लोग उनका नाम लेकर रोएंगे-पीटेंगे, फूल मालाएं चढ़ाएंगे और सत्याग्रही छूट जाएंगे...गांधी जी लंदन जाएंगे...हम लोग हाथ पर हाथ धरे इंतजार करेंगे कि वे एक और समझौता ब्रिटिश सरकार से हमारे लिए करें...बस।" गांधी का यह समझौतावादी स्वभाव एक प्रकार से जनता का भी स्वभाव बन गया था।

गांधी 'सत्याग्रह' के पक्ष में थे 'आंदोलन' के पक्ष में नहीं। आंदोलन के लिए प्रतिपल 'क्यों' के प्रश्न से घिरा आतंकवादी चड्डा गांधी की इस आंदोलन न करने की नीति पर खिन्न होते हुए कहता है— "गांधी जी ने कहा— करो या मरो—और जब जनता कर गई तो कह दिया इस आंदोलन से हमारा कोई ताल्लुक नहीं है।" गांधी पूंजीवाद के विरुद्ध थे और इस पूंजीवाद को भी आंदोलन से नहीं समझौते से दबाने की आकांक्षा रखते थे—जो कतई संभव नहीं था। एक बार गांधी ने पूंजीवादी बिड़ला की इच्छा से उसकी एस्टेट से सत्याग्रह को सफल बनाने का जो प्रयास किया उस पर व्यंग्य करते हुए आतंकवादी कहते हैं—"बिड़ला जी को खुद गांधी जी ने मान दिया था। हर्ज भी क्या है अगर कोई उद्योगपति सत्याग्रह में हाथ बंटाना चाहे...आखिर पैसे के बिना सत्याग्रह चल नहीं सकता और जो शौक से दे उसके लेने में हर्ज ही क्या है।"

उपन्यास का प्रमुख यायावरी पात्र अनित्य भावनाओं के सागर में नहीं बहता बल्कि वास्तविक रूप में स्थितिगत यथार्थ को पहचान कर कार्य करता है। वह तो गांधी जी के सिद्धान्त और नीति के अतिरिक्त उनके खान-पान-पहरावे पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूकता। अनित्य काम-काज नहीं करता; इस-उससे आर्थिक सहायता पाकर जीवन व्यतीत करता है वह भी

महसूसता है कि हाय हाय करने की हमें आदत है। हम कभी नहीं सोच पाते कि एक गरीब के मुकाबिले हम कितनी सहूलियतें पाये हुए हैं। गांधी की द्विमुखी भूमिका के प्रति आक्रोश होने के कारण अपना तर्क देता है—"गरीबी झेलना और गरीबी से सहानुभूति रखना दो अलग चीजें हैं। जानबूझ कर तीसरे दर्जे में सफर करना और लंगोट पहनना एक बात है और न चाहते हुए भी ऐसा करने पर मजबूर होना दूसरी बात है। फिर यह बतलाइए कितने गरीब किसान हैं जो दूध, फल और बादाम खा पाते हैं।" लेकिन अनित्य अवसरवादी भी है। वह एक ओर गांधी के विरुद्ध तर्क प्रस्तावित करता है तो दूसरी ओर आतंकवादियों के दल की पिटाई से बचने के लिए गांधी के सत्याग्रही दल में शामिल हो जाता है।

स्वतंत्रता की प्राप्ति से पहले ही गांधी की इस द्विमुखी भूमिका को कई विवेकशील युवक भलीभांति पहचान गए थे। इसीलिए वे लोग क्रांति द्वारा देश को आजाद करवाना चाहते थे। गांधी की अहिंसा और समझौतावादी सिद्धान्त पद्धति का विरोध आतंकवादियों ने यह कह कर किया कि "गलत मूल्य को सिर्फ इसलिए छाती से चिपकाये रखना क्योंकि एक दिन उचित समझ कर उसे ग्रहण किया था, अपने को छलना भर है और कुछ नहीं।" आतंकवादी क्रांतिकारियों को सरकार राजनैतिक बंदी नहीं कातिल और डकैत मानती थी। जेल में राजनीतिक क्रांतिकारी और आतंकवादी क्रांतिकारी में भेद रखा जाता था। सूली या फांसी आतंकवादी को बख्शी जाती थी "राजनैतिक" को नहीं। जेल में भी क्रांतिकारियों की तीन श्रेणियां बना दी गई थीं—ए, बी और सी। श्रेणी अनुसार क्रांतिकारियों के साथ व्यवहार किया जाता था। इस व्यवहार भेद के लिए अनित्य कहता है—"राजनैतिक बंदी ! लाला लाजपतराय को शिकायत थी कि मद्रासी छोकरे का बनाया खाना रुचता नहीं, पंजाबी आदमी चाहिए और अंडमान के बंदियों को शिकायत है कि बैल की जगह उन्हें कोल्हू में जोत कर तेल निकलवाया जाता है।"

आतंकवादी क्रांतिकारियों का मत था कि जो स्वतंत्रता लड़ कर ली जाए उसका मूल्य और होता है। आतंकवादी दल की सदस्या काजल बनर्जी अहिंसात्मक समझौते को स्वाभिमान का ह्रास मानती है क्योंकि उसका अंत समझौते में होता है। शासकों से समझौता करने का अर्थ ही है स्वाभिमान का ह्रास और नपुंसकता का उदय। ऐसे लोग हमेशा परिवर्तन से डरते हैं। हमीं को देखो न : हमने न अपने शासकों की शासन प्रणाली बदली न शिक्षा प्रणाली।" इस दल का एक ही निर्णय है हम समझौते से नहीं, लड़ कर आजादी हासिल करेंगे। इन सरफरोशों का एक ही उद्देश्य था 'प्रोपोगेंडा बाई डैथ'। पूंजीवादी मूल्यों का इनके लिए कोई महत्व नहीं और आत्म बलिदान से महंगा प्रचार का साधन भी इनकी दृष्टि में नहीं।

प्रतिबोध

गांधी के सिद्धान्तों या आतंकवादियों के बलिदानों के फलस्वरूप हमने आजादी हासिल कर ली लेकिन आजाद भारत के उन्नति के मार्ग को अपने ही आजाद तिलचट्टे किस तरह चाट रहे हैं इसका विश्लेषण उपन्यास के दूसरे भाग 'प्रतिबोध' में किया गया है। नेहरू ने

कहा था "कामयाबी तभी हासिल होनी चाहिए जब आदमी उसके काबिल हो वरना कुर्बानी कोई देगा और ऐन मौके पर हकूमत मौकापरस्त लोगों के हाथों में चली जायेगी" हुआ भी यही। स्वतंत्र भारत के नेता वे बने जिनके लिए क्रांति या विद्रोह हेय शब्द थे। सत्तारूढ़ होते ही यह लोग स्वधर्म की पहचान खो बैठे और अपने-अपने स्वार्थ में लिप्त हो गये।

आर्थिक हित समूहों और वर्गों के निर्माता होते हैं यह परख कर भी हम इस वंचना से छुटकारा न पा सके। वास्तव में हमने जिस गणतंत्र की स्थापना की है उसमें वर्ग-व्यवस्था का स्थान नहीं है। गणतंत्र की सारी व्यवस्था सहयोग पद्धति पर आश्रित है परन्तु देश की अर्थ-व्यवस्था के बदलाव के बिना वर्ग-भेद मिटना बिल्कुल असंभव है। गणतंत्र में अमीरी-गरीबी के चोंचले, छोटे-बड़े अथवा मालिक-नौकर का भेद निरंतर विकसित हो रहा है। अब हम एक प्रकार से अपने ही मन के गुलाम हो गए हैं—"जब हम गुलाम थे तो कानून तोड़ते थे, जेल जाते थे, यह दिखलाने को कि हमारा मन गुलाम नहीं है और आज जब हम आजाद हैं··· हमारा मन गुलाम हो गया है।"

स्वतंत्रता संग्राम फल की आशा या मुआवज़े के लिए नहीं लडा गया था, इसका उद्देश्य मात्र देश को आजाद करवाना था "हम सब अपने-अपने तरीके से लड़े थे, कुछ को मुआवज़ा मिल गया, कुछ को नहीं पर मुआवज़े के लिए हम नहीं लड़े"। आज़ादी के उपरान्त सरकार अवसरवादी नेताओं के हाथ में चली गयी। घूसखोरी, बेईमानी, भाई-भतीजावाद, स्वार्थ आदि बढ़ने लगे। ऐसी सरकार का फायदा अवसरवादी लोग ही उठा पाये फलस्वरूप अमीर-अमीर होते गए तथा गरीब और भी गरीब होते गये। देश में विकासात्मक काम नगरीय तथा महानगरीय स्तर को उन्नत करने के लिए सम्पन्न होते हैं न कि ग्रामीण स्तर को—"डैम तो 'स्टेटस सिंबल' बनकर रह गये हैं। हर राज्य को एक बड़ी योजना चाहिए। जब तक उसके साथ छोटे स्तर पर नदियों और तटों पर काम नहीं होगा, कुछ फायदा नहीं होगा।" गांधी-टोपी पहन कर, नेतागिरी के प्रपंच रच कर मौकापरस्त आदमी कितनी धांधली कर रहा है इसका चित्रण लेखिका ने सरण जैसे पात्र द्वारा किया है "आज़ादी मिलने पर जो सीमेंट एजेंसी सरकार ने हमें दी थी, वह भी हमने छोटे भाई को दे डाली। पेट्रोल पंप का लाइसेंस मिला तो लड़का कहने लगा, मैं चला लूंगा। मैंने कहा ठीक है, भइया, चला लो, अपने बस का यह रोग है नहीं। हां सरकार ने गांधी संस्थान चलाने के लिए नियुक्त कर दिया तो रास आ गया अपने को···स्टील का कोटा मिला था। पत्नी ने कहा, बच्चे बड़े हो गए, वक्त काटे नहीं कटता, कहो तो स्टील के बर्तनों की छोटी सी फैक्टरी लगा लूं, मैंने कहा लगा लो देवी।"

अवसरवादिता, छोटे-बड़े के भेद तथा पूंजीवाद से राहत पाने का मार्ग अर्थशास्त्र की ज्ञाता गर्ग ने मार्क्सवाद में ही पाया है। मालिक और नौकर का भेद वह इतना ही मानती हैं—'पूंजीरहित श्रम को बेचने वाला आदमी गुलाम से सिर्फ एक मायने में फर्क होता है—यह कि वह अपना मालिक तब्दील कर सकता है। मालिक उसे नहीं बेचता वह खुद, खुद को बेचने पर मजबूर होता है।" वर्गभेद पूंजीपति समाज की ही देन है "जिसके मां-बाप नहीं

होते, उसकी क्लास नहीं होती।" उपन्यास में प्रभा को कामरेड दल में शामिल करने से इसलिए इनकार कर दिया जाता है क्योंकि उसका बाप अविजित सिंघानिया मिल्स का मैनेजर तथा शहर का रईस आदमी है लेकिन दल की नेता काजल के इस तर्क पर कि "इसके बाप ने इसे पैदा किया है, इसने अपने बाप को नहीं" उसे सहर्ष दल की सदस्यता दे दी जाती है :

भारत में दान देने और लेने की प्रथा सदैव रही है। अमीर लोग दान देते हैं गरीब लोग उस दान को लेते हैं। इससे 'एक पंथ दो काज' वाली बात बन जाती है कि अगले जन्म के लिए अमीर पुण्य कमा लेता है तथा गरीब का पेट भी भर जाता है। लेखिका का कहना है लेने और देने का प्रश्न जड़ से कुरेद देना चाहिए और समाज में साम्यता होनी चाहिए— "मदद करने की सामर्थ्य होना गलत है। एक समाज में रहने वाले लोग इस तरह क्यों बटें कि एक वर्ग के पास इतना हो कि वह मदद करने की सामर्थ्य रखे और दूसरे वर्ग के पास कुछ न हो कि उसे मदद की जरूरत पड़े"। प्रभा के माध्यम से लेखिका ने इस मत का स्थायी प्रतिपादन कर दिया है कि नारे बुलंद करने से नहीं प्रत्युत कम्यूनिज़्म लाने से ही वर्ग-भेद मिट सकता है और इसके लिए क्रांति, हिंसा, अराजकता, मारपीट...सब अनिवार्य है।

निष्कर्ष

'दुविधा' और 'प्रतिबोध' दो अंशों में लिखे गये प्रस्तुत उपन्यास में मृदुला गर्ग ने जो राजनीतिक चित्रण किया है उससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—१. गांधीवादी सिद्धांतों का प्रत्यक्ष विरोध और २ पूंजीवाद को मिटाने के लिए कम्यूनिज्म की स्थापना। भारत एक सांस्कृतिक देश है। संस्कारों तथा आदर्शों से पोषित व्यक्ति की भूमिका यहां की जनता को सदैव प्रभावित करती रही है। गांधी को भी जननेता स्वीकार करने का कारण यही रहा है। लेखिका ने मूल्य बदलाव के इस युग में पाश्चात्य आंदोलनों के प्रभाव तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पिछड़ेपन को विश्लेषित कर अंधी नेतागिरी तथा स्वार्थान्धता से गणराज्य को मुक्त करके साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना के प्रयास का सकेत दिया है। गांधीवादी सिद्धान्तों का विश्लेषण लेखिका ने उनके विश्वासों की सफलता के संदर्भ में किया है अन्यथा नहीं क्योंकि वे स्वयं कहती है— "गांधी जी भी 'अराजकतावाद' के विरोधी नहीं थे। दरअसल अराजकतावाद नाम इस शैली के विरोधियों का दिया हुआ है, इसलिए नेगेटिव है। पॉज़िटिव शब्द है 'विराज' यानि विराट जनता का सुगठित शासन। गांधी जी का ख्याल था कि क्योंकि ब्रिटिश सरकार पूंजीवादी सरकार है इसलिए वह समझौते से जब भी सत्ता छोड़ेगी तो पूंजीवादी राजनीतिक दल को ही देगी। बलपूर्वक सत्ता लेने को वे असम्भव मानते थे पर उन्हें यह भी विश्वास था कि एक बार अंग्रेजों से सत्ता छीन लेने पर वे पूंजीवाद से भी निबट लेंगे। बस इसी फंतासी की सजा भुगत रहे हैं हम लोग। पूंजीवाद बाजी जीत गया, गांधी जी हार गए। वे ग्राम स्वराज्य पर लिखते रहे और उनके तथाकथित अनुयायी अपने शासन की प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए ब्रिटिश सरकार को भी मात दे गए। नौकरशाही और पूंजीवाद घुन की तरह गणराज्य में लग गए।" अतएव गांधी की तरह चिन्तन-मनन से नहीं बल्कि क्रांति द्वारा गणराज्य से पूंजीवाद को

मिटाने पर लेखिका ध्यान केन्द्रित करवा कर रह जाती है। लेखिका का यह मत और इसकी पुष्टि के लिए दिए गए तर्क कितने संगत हैं—इन पर अभी प्रश्नचिन्ह जड़े हुए हैं क्योंकि समस्या का समाधान इतना सरल नहीं जितना लेखिका ने दिखाने का यत्न किया है। इसीलिए अपनी सम्पूर्ण अन्विति में यह चिन्तन अधिक प्रभावित नहीं कर पाता। अतः उपन्यास का अंत अधूरा लगने लगता है।

———

निवेदन

★ प्रकाशित रचनाओं पर उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

★ जम्मू–कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराज़ा में वरीयता दी जाती है।

★ रचनाएं कागज के एक ओर सुबाध्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाईप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है अतः उसे अपने पास ही रखें तो बेहतर होगा।

★ स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है।

★ 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अंतर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—सम्पादक

आलोचना का सैद्धांतिक पक्ष

आलोचना और शैलीविज्ञान

—बी० एल० आच्छा

प्राय: यह सवाल किया जाता है कि आलोचना का प्रतिमान क्या है ? क्या आलोचना रचना की ही प्रति-यात्रा है या उसका स्वतंत्र अस्तित्व होता है ? यह तो तय है कि आलोचना रचना की ही होती है, अत: रचना से अलग किसी प्रतिमान का अस्तित्व नहीं हो सकता। रचनाश्रित रहने के कारण आलोचना के प्रतिमान भी अन्तिम नहीं हो सकते। लेकिन स्थिर कला-धारणाओं, बहिर्लक्ष्यी परिप्रेक्ष्यों, प्रतिबद्ध आग्रहों से रचना की पड़ताल की जाती है तो नये संवेदन के साक्षात्कार की सीमाएं और मूल्यांकन के खतरे साफ नजर आते हैं। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ठीक ही कहते हैं कि 'पूर्वाग्रहों से परिचालित आलोचक शास्त्र से अनुभव को नापते हैं, अनुभव से शास्त्र को नहीं।' इसीलिए शास्त्र का कायल बने रहने की अपेक्षा रचनातंत्र से सतत साक्षात्कार अनिवार्य है। आलोचना की प्राथमिक प्रतिबद्धता रचना और उसके सतर्क विश्लेषण के प्रति है, किसी शास्त्र, व्यक्ति या विचारधारा के प्रति नहीं।

रचना के बहुआयामी कला-संवेदन के अन्वेषण में समाजशास्त्र, मनोविश्लेषण, जीवनी, नीति जैसे सहायक विषयों की भी दिलचस्पी रही है। समाजशास्त्री आलोचक मानता है कि रचना का मूल्य उसके परिवेशगत अस्तित्व से निर्धारित होता है। मानववादी आलोचक मानव नियति के यथास्थितिवादी दर्शन को नकारता है और साहित्य को दुनिया बदलने का एक निमित्त मानता है। मनोविश्लेषणात्मक रचयिता मानस की दमित वासनाओं, रचना-प्रक्रिया और प्रभावगत मूल्यांकन की ओर मुखातिब है। जीवनीपरक आलोचक का वक्तव्य है कि कवि के सम्बंध में सोचे बिना कविता के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। नैतिक प्रतिमान के प्रवक्ता की हिदायत है कि यदि साहित्य का प्रभाव शिक्षात्मक न हो तो उसके अस्तित्व का कोई पर्याप्त कारण नहीं है।

आलोचना की ये बहिरंग दृष्टियां रचना की प्रकृति और प्रयोजकता को दरकिनार कर व्यक्ति, विचारधारा और साहित्येतर मूल्यों को प्रबल बना देती हैं। वे रचना को केन्द्र में न

रखकर उसे निरूपित विचारों, सामाजिक अनुभव के एक अभिलेख या एक परोक्ष खुदनयानी के रूप में देखती हैं। इन दृष्टियों की सक्रियता से रचना के अछूते पक्षों के उद्घाटन में सहायता तभी मिल सकती है, जब साहित्य को साहित्य के नजरिए से देखा जाए। कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी की टिप्पणी सटीक है कि 'पिछले बीस बरसों में हिन्दी आलोचना गैर-साहित्यिक दबावों से इतनी आक्रांत रही है कि उसका अधिकांश, वास्तविक कृतियों से निरन्तर और उत्कट रूप से संबद्ध होने के बजाय ऐसे सामन्यीकरणों में फैल गया है, जिनका वास्तविक आलोचना में कोई उपयोग नहीं हो सकता है या फि' रचना को उसकी तद्रूपता और अद्वितीयता में देखने, पहचानने और परखने के बजाय उसका राजनीतिक, सामाजिक या समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक या नैतिक अभिप्रायों में अनुवाद कर, इन अभिप्रायों का विचार करता है।' इस प्रकार की आलोचना ने वस्तु और रूप के कृत्रिम विभाजन को जन्म देकर खंडित दृष्टि को पल्लवित किया है।

रचना को समझने का सशक्त हथियार—भाषिक संरचना

आलोचना के मोर्चे पर जिस वस्तु से सीधा साक्षात्कार होता है, वह है कृति और उसकी भाषिक सरचना। रचना के प्रति प्रामाणिक और पारवेधी समझ पैदा करने के लिए सर्जनात्मक भाषा का सतर्क विश्लेषण अनिवार्य है। कविता की भाषा ही कृति से साक्षात्कार का सेतु है और अनुभव का पारदर्शी दर्पण। शैली विज्ञान भाषा के रास्ते रचनात्मक संवेदन के कलात्मक स्थापत्य को समझने के लिए भाषिक संरचना के विश्लेषण पर बल देता है। शैली विज्ञान मानता है कि साहित्य शब्दों की कला है, मानवीय संप्रेषण है परन्तु उसका सौन्दर्यात्मक प्रयोजन होता है, उपयोगितावादी नहीं। कवि सौन्दर्यात्मक प्रयोजन से ही भाषा में अनुभव के संसार को रचता है। शैली विज्ञान भाषा के रास्ते रचना संसार की वस्तुवादी और वैज्ञानिक पड़ताल पर बल देता है। यह सच है कि साहित्य— जो भावों और आवेशों की दुनिया है, विज्ञान के रास्ते पर नहीं ले जाया जा सकता। फिर भी रचना के वस्तुपरक विश्लेषण, उसके अवयवों के भीतरी सम्बंधों की पड़ताल के आधार पर आलोचना को अधिक तलस्पर्शी और रचनानिष्ठ बनाया जा सकता है। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं कि आलोचक का काम मध्यस्थ का है। शैली विज्ञान भी मध्यस्थ की भूमिका पर रचना संसार की पहचान कराता है।

आलोचनात्मक साक्षात्कार में काव्य-भाषा की केन्द्रीयता अथवा संदर्भ की अपेक्षा शब्द से संदर्भ की पहचान कोई नयी स्थापना नहीं है। इलियट ने इसे 'सच्चे मूल्यांकन के व्यापक-प्रयास' कहा था। भारतीय काव्यशास्त्र 'शब्दार्थों' की सम्पृक्त धुरी से केन्द्रित रहा। कुंतक ने वक्र भाषा व्यापार को ही आधार बनाया था। रीति, वक्रोक्ति जैसे देहवादी संप्रदायों की बात छोड़ भी दी जाए तो भी ध्वनि और रस जैसे आत्मवादी संप्रदाय भी कृति की संघटना को ही व्यंग्यार्थ स्फोट का आधार मानते आये हैं।

शैली विज्ञान रचना और उसकी भाषिक संरचना को ही प्रतिमान के रूप में ग्रहण करता है। संरचना—जिसमें कवि का अन्तर्जगत् और सामाजिक अनुभव का आत्मकृत संवेदन बसे

होते हैं। भाषा में सर्जनात्मक अभिव्यक्ति की अपार संभावनाएं छिपी रहती हैं। कवि सर्जनात्मक भाषा में ही रचनात्मक संवेदन को रचा-बसा लेता है। वह भाषा के सीमित साधनों का असीमित उपयोग करता है, भाषा की मानकता पर प्रहार करता है, स्वचालित अभिव्यक्तियों को तोड़ता है। जब भाषा संवेदना के रंग में रंग जाने के लिए विवश हो जाती है, तो भाषा कविता का माध्यम नहीं रह जाती, भाषा ही संवेदना बन जाती है। इसलिए आलोचक भी भाषा की राह पर चलने के लिए विवश है। परन्तु इस ज़मीन से हटकर आरोपित दृष्टियों से मूल्यांकन किया जाता है तो आलोचनात्मक प्रदूषण के खतरे साफ हो जाते हैं। सच तो यह है कि कवि के प्रस्वेद, रचनाप्रक्रिया, आंतरिक व्यक्तित्व, चित्रित परिवेश, सर्जनधर्मी मूल्यों, वैयक्तिक-वैशिष्ट्य और रचनाशक्ति की पहचान भाषा की कसौटी पर अधिक विश्वसनीय और वस्तुगत आधार पर की जा सकती है।

आलोचना का भाषावादी परिप्रेक्ष्य

वस्तुतः शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र के संगमन क्षेत्र में विकसित आलोचना का भाषावादी परिप्रेक्ष्य है। बीसवीं शताब्दी में भाषाविज्ञान का स्वतंत्र विषय के रूप में विकास हुआ है। ब्लूमफील्ड के बाद लिखित एवं साहित्यिक भाषा के विश्लेषण के अनेक श्लाघनीय प्रयत्न हुए हैं। रूसी रूपवादी सम्प्रदाय, प्राग स्कूल ऑफ लिंग्विस्टिक्स, ब्रिटिश स्कूल, फ्रांस की एक्सप्लिकेशन डिटेक्स्टे पद्धति, न्यू क्रिटिसिज्म, नॉम चॉम्स्की के टी० जी० ग्रामर आदि भाषावैज्ञानिक-साहित्यिक सम्प्रदायों ने काव्यभाषा-विश्लेषण के नए आयाम विकसित किये हैं। रोमन जेकोब्सन ने भाषिक उपकरणों के चयन और विन्यास अथवा रचना में भाषिक इकाइयों के आंतरिक सम्बंधों के आधार पर काव्य-विश्लेषण के नये परिप्रेक्ष्य को जन्म दिया है। यह सच है कि अन्तःज्ञान से भी साहित्यालोचनपरक निष्कर्षों को जाना जा सकता है, परन्तु अन्तःज्ञान का भी कोई व्याकरण होना चाहिए। शैलीविज्ञान प्रणालीसम्मत शास्त्र है।

सांप कविता की भाषिक संरचनागत पड़ताल

अपने मंतव्य की पुष्टि के लिए अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता **सांप** को उद्धृत कर रहा हूं—

सांप !
तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछूं—(उत्तर दोगे ?)
तब कैसे सीखा डसना
विष कहां पाया ?

कविता की बुनावट में विरोध और विसंगति साफ झलक जाते हैं। कविता का संबोध्य है-सांप, जोकि एक जहरीला अमानवी जन्तु है। परन्तु उसके लिए सभ्य होना और नगर में बसना जैसी मानवी क्रियार्थक संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है। ये मानवी क्रियार्थक संज्ञाएं भी शहरी

ग्रादमी से संबद्ध हैं। पर सांप ने तो गांवों, खेत-खलिहानों के आसपास बिल में रहने की आदिम प्रकृति में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं किया है।

इसके ठीक विपरीत ग्रंतिम दो पंक्तियों में सांप से पूछा जा रहा है कि यदि वह सभ्य नहीं हो पाया और नगर में बसना भी उसे नहीं आया है तो फिर 'डसना' कहां से सीखा है, विष कहां से पाया है ? गोया, सभ्य हुए और नगर में बसे बगैर डसना और विष पाना सीखा ही नहीं जा सकता। फिर, डसना और विषयुक्त होना सांप की स्वाभाविक विशेषता है, अर्जित नहीं। अजीब विसंगति है कि सांप की जो प्राकृतिक विशेषता है उसे अर्जित विशेषता बतलाया जा रहा है और सभ्य होना तथा नगर में बसना जैसी क्रियार्थक संज्ञाओं से सांप का कोई वास्ता नहीं है, उन्हें सांप से सम्बद्ध किया जा रहा है। जिन शब्दों को सांप के साथ 'माइनस' देना था उन्हें 'प्लस' कर दिया गया है और जो 'प्लस' विशेषताएं थीं उन्हें 'माइनस' कर दिया गया है। इस विलोमी संरचना का प्रयोजन क्या है ? फिर, 'एक बात पूछूं—(उत्तर दोगे ?)' यह प्रश्नात्मक ग्रौर उत्तरापेक्षी मुद्रा भी मानवी है, जबकि संवाद अमानवी और भाषाहीन जंतु से हो रहा है।

इस अतर्कित तर्क को समझने के लिए संरचना के ग्रांतरिक सम्बधों का विश्लेषण जरूरी है। इसके लिए सभ्य होना और नगर में बसना के समांतर डसना और विष पाना क्रियार्थक संज्ञाग्रों को रखना होगा। इनको जोड़ने वाला अव्यय है, **तब**। डसना और विष पाना तभी संभव है, जब सभ्य होना और नगर में बसना सीख लिया हो। यदि सभ्य होना और नगर में बसना शहरी ग्रादमी की विशेषता है तो डसना और विषयुक्त होना भी उसी का विकार है। सांप ने यह विकार वहीं से सीखा है। पर सांप यह विकार सीखता नहीं है। तब मुख्यार्थ बोध के कारण सांप का अर्थ होगा, ग्रामीण आदमी। सांप भी ग्रामीण परिवेश में रहता है। गांव के भोले आदमी में ज़हर नहीं होता और वह डसना भी नहीं जानता। तब सांप ग्रामीण मानस का प्रतीक है, क्योंकि डसना और विषयुक्त होना उसकी स्वाभाविक या प्राकृतिक विशेषता नहीं है, अर्जित भले ही हो।

ग्रामीण आदमी अभी सभ्य हुआ भी नहीं है, नगर में बसना उसे आया नहीं है, तब भी शहरी सभ्यता के प्रभाव मात्र से उसका भोला मन जहरीला बन गया है और स्वभाव डसने का। वस्तुत: **तो और भी** निपात बहुत अर्थव्यंजक हैं, व्यंग्य इन्हीं से पैना हुआ है। ध्यान से देखा जाये तो सारा व्यंग्य सांप में न होकर **डसना** क्रियार्थक संज्ञा में निहित है, सांप और शहरी मानव के सादृश्य का आधार वही है। साफ है कि व्यंग्य आज के ग्रामीण आदमी के प्रतीक सांप के मार्फत शहरी सभ्यता और नगर संस्कृति पर किया जा रहा है।

कविता में पच्चीस शब्द हैं, अधिकांश तद्भव और प्रयोग में अति परिचित। इसके बावजूद कविता की संरचना जटिल है। यों तो अज्ञेय की काव्य-भाषा दीक्षागम्य होती है, पर ऐसा न होने पर भी संरचना से भिड़ना तो पड़ता ही है।

अज्ञेय की काव्ययात्रा को प्रायः व्यक्ति-केन्द्रित कहा जाता है। प्रतिबद्ध आलोचक ध्यान से देखें कि अज्ञेय की परिवेश से कितनी और किस तरह की संपृक्ति है ? आवश्यक तो नहीं कि परिवेश की अभिव्यक्ति सीधे सीधे हो। वह प्रतीकात्मक भी तो हो सकती है।

कविता में लयात्मक उपकरण बहुत कम हैं, सिवाय तीसरी और छठवीं तथा चौथी और सातवीं पंक्ति में तुकांत के। फिर भी संरचनात्मक सघनता के कारण भीतरी लय विद्यमान है। भीतरी लय बोध या सोचने की ओर धकेलती है।

इस सारे विश्लेषण से स्पष्ट है कि कविता के सारे संदर्भ भाषा में निहित हैं और भाषा के रास्ते चलकर कविता से अंतरंग बातचीत की जा सकती है। यदि आलोचना रचनाशीलता का ही विस्तार है तो शैलीविज्ञान उस दिशा में एक वस्तुवादी प्रस्थान कहा जा सकता है।

————

जम्मू का हिन्दी - कवि - समाज*

(सन् १९२० से १९४७ तक)

—डॉ० गंगादत्त शास्त्री 'विनोद'

जम्मू में हिन्दी-लेखन का क्रमबद्ध इतिहास लगभग सत्रहवीं शताब्दी (ईस्वी) के अन्त से प्रारम्भ होता है। उसके पूर्व यहां हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में कितनी साधना हुई इसका कोई लिखित साहित्य प्रमाण स्वरूप उपलब्ध नहीं है। यह काल अभी खोज की अपेक्षा रखता है।

सन् १९२० से १९४७ तक इस राज्य में हिन्दी लेखन-सम्बंधी जो ज्वारभाटा आया था, उसकी अपनी विशेषताएं थीं तथा उसमें अनेक उदीयमान कवि रंगमच पर उतरे; अनेक हिन्दी सभाएं बनीं और प्रचार की आंधी भी चली। वास्तव में पिछले हिन्दी दौरों की अपेक्षा यह दौर अधिक उग्र था, जिससे यह आशा भी बन्ध चली थी कि इसी क्षेत्र में अच्छी-अच्छी प्रतिभाएं उभर कर समग्र भारत में हिन्दी कविता के रंगमंच पर अपना प्रतिमान स्थापित करेंगी, किन्तु यद्यपि यह भविष्य सम्बंधी आशा पूर्ण नहीं हो पाई और यह प्रवाह उत्तेजित होकर भी दो-तीन दशकों के भीतर ही शान्त पड़ गया किन्तु इसने हमें जो तत्कालीन इतिहास प्रदान किया, ऐतिहासिक संदर्भों मे वह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। १९२० से १९४७ तक के काल को तीन भागों में बांटा जा सकता है—१. छायावादी युग, २. राष्ट्रीय युग, ३. प्रयोगवादी युग।

छायावादी युग—इसके अन्तर्गत जम्मू के कुछ कवि उन दिनों गुनगुना रहे थे किन्तु छायावाद का जो अतिगूढ़ स्वर निराला, महादेवी और पन्त की कविताओं में था, उसका प्रभाव या संस्कार इन कवियों की वाणी में अति स्पष्ट न होकर भक्ति कविता या जीवन गान के स्वरों में ही अंगड़ाइयां भर रहा था। वे छायावाद के हृदय को पूर्णरूप से न समझ कर स्वाभाविक मनोन्मीलन करने लगे। इन कवियों में प्रथम नाम स्वर्गीय प० हरदत्त जी का आता है।

---

* प्रस्तुत लेख डॉ० गगादत विनोद के हमारा साहित्य ७७ तथा शीराज़ा जून '७८ में प्रकाशित लेखों "जम्मू प्रदेश में हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वह अतीत युग" तथा "जम्मू के भारतेन्दु युग से द्विवेदी युग तक के प्रसिद्ध हिन्दी कवि" की ही अगली कड़ी है।

पं० हरदत्त १९२० ई० के लगभग साहित्य क्षेत्र में उतरे थे। उस समय हिन्दी साहित्य में अभी द्विवेदी युग ही चल रहा था। इस युग की स्थूलवादी सामाजिक और उपदेशात्मक कविताओं का प्रभाव इन पर अवश्य पड़ा किन्तु सांस्कारज भक्ति और अध्यात्म-भावना का जो पुट इनकी गुनगुनाहट में मिल गया था द्विवेदी युग का यह प्रभाव उसे दबा नहीं सका किन्तु अपना प्रभाव डालने में सफल अवश्य हुआ। पंडित जी का प्रथम व्यवसाय अध्यापन और द्वितीय कथावाचन था। कथावाचन में आध्यात्मिक और भक्तिरस पूर्ण पदों का हरमोनियम के साथ गा-गा कर श्रोताओं को सुनाना इनकी कथा की विशेषता थी। इन्होंने अपेक्षित भक्ति और उपदेशात्मक पद कुछ तो प्राचीन हिन्दी कवियों के संगृहीत किये और कुछ अपने पद भी रचे। किन्तु श्रोताओं को सुनाने के लिए ये प्रायः हिन्दी पदों के साथ डोगरी पदों का भी प्रयोग करते थे। इसी कारण उन डोगरी भजनों की जब अधिक सख्या हो गई तो तीन-चार भजन मालाओं में वे प्रकाशित कर दिये गए। इन्हीं भजन मालाओं में कहीं-कहीं इनके हिन्दी भजन भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें अधिकतर देश और समाज की दुर्दशा पर आन्तरिक तड़प प्रस्फुटित हुई है। जैसे—

आ गये मेज़ पर अण्डे, बिरांडी, केक, बिस्कुट हैं,
नज़र आती नहीं माखन, मलाई आज भारत की,
तबाही देश की हो पर फरक आये न फैशन पर,
बही जाती है पश्चिम को कमाई आज भारत की॥

समाज की दुर्दशा और धर्म के प्रति लोगों की अनास्था देखकर कवि हरदत्त जी का हृदय कराह कर बोल उठा—

हे भगवान् भूल गए हो गीता का इकरार
धर्म घटे जब पाप बढ़े, तब लेता हूं अवतार।

उनकी हिन्दी के प्रति निष्ठा का प्रमाण उनके द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक "दीपक" था, जिसमें उनका हिन्दी में सम्पादकीय छपता था तथा कई एक हिन्दी कविताएं भी उसमें आती रहीं। इनका देहान्त सन् १९५६ में हुआ था।

श्री बन्सी लाल सूरी सन् १९३२ में हिन्दी कविता के क्षेत्र में उतरे। इनके गद्य-गीतों का एक संग्रह—सहस्रमुखी—जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी ने प्रकाशित किया है। संकलन कर्ता हैं हिन्दी शीराज़ा के सम्पादक श्री रमेश मेहता। सन् १९३२ से चलकर १९५९ तक की कविता की लम्बी यात्रा के फलस्वरूप श्री सूरी का यह सकलन पाठकों के सामने आया है। इसमें भिन्न-भिन्न भावोन्मीलनों पर गद्य-गीत प्रस्तुत किये गए हैं। इन भावोद्वेगों में अधिकतर राष्ट्रीय, शृंगारिक, सामाजिक और व्यक्तिनिष्ठ भावोद्गार प्रकट हुए हैं। सन् १९४७ के पूर्व के दिनों में केवल छन्द हीन या गद्य-गीत ही लिखना सूरी जी का हिन्दी कविता क्षेत्र में अभिनव प्रयोग ही कहलाया। प्रस्तुत संग्रह में इनकी ६६ कविताएं संगृहीत हैं। इनकी कविताओं में उस युग का वास्तविक स्वर मुखरित हो रहा है। राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत इनकी एक कविता की कुछ पंक्तियां देखिए—

जंगल राज
क्या अराजक राज ?
नहीं
पल्लव, सुगन्ध, रंग
और रम्यता राज।
विपिन विधान
क्या अवैध विधान ?
नहीं
कोकिल-संगीत, मयूर-नृत्य
पंचानन पखेरू और रींग जन्तु
विहारों का स्वातन्त्र्य विधान।
अरण्य नीति
क्या अनियामक नीति ?
नहीं
जल प्रवाह निर्झर और
हिम-दर्शन।

सूरी जी की कविताओं की भाषा ठेठ हिन्दी है जो संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से भरपूर होकर स्वाभाविक प्रवाह में बही है। ऐसा लगता है कि उन्हें जब कविता का उद्गार आता था, उसे संभालने में उनकी सबल भाषा स्वयं अपना मार्ग बना लेती थी। कल्पना और चित्र विधान एवञ्च बिम्ब ऐसी निर्मलता से प्रस्फुटित हुए हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक स्वतः आत्म-विभोर हो उठता है। उनका भाषा पर पर्याप्त अधिकार था। फिर जिस वस्तु का वर्णन करने लगते हैं उसका साकार चित्र उपस्थित कर देते हैं। ललित और मधुर भाषा में पिरोए गए भाव वास्तव में ही स्वाभाविक लगने लगते हैं। उनकी कविता की एक शृंगारिक झलक देखिए—

तुम मेरी प्रेयसी हो
प्रिये
और मैं प्रेमिक
तुम्हारा नारीत्व
और मेरा पौरुष
विश्व के अंश अंश के लिए
अमृत है
और इनके सम्मिश्रण के दूसरे नाम हैं
दुर्गा, शिव, परमानन्द
अतः तुम मेरे जीवन का अखण्ड
आकर्षण...

इन पंक्तियों में सुन्दर शिष्ट तथा दैवी आभा से युक्त प्रेम का चित्रण है। कवि प्रेम का रूप अलौकिक सौन्दर्य के रूप में देखता है।

कवि की दूसरी विशेषता है—चित्र विधान। जिस वस्तु का चित्रण करने लगता है उसका वातावरण के साथ साकार चित्र खींच देता है। प्रकृति का कोमल वर्णन भी कवि की तीसरी विशेषता है। उसमें उपमान और रूपकों का प्रयोग भी स्वाभाविक बन पड़ा है। भाषा की कोमलता उसका स्वाभाविक प्रवाह तथा सौन्दर्य वास्तव में ही सूरी जी की कविता का शृंगार हैं। जैसे –

स्वच्छ जल-प्रवाहित करते निर्झर
रमणीय गगनचुम्बी
विशाल पर्वतीय हिम समूह
कंचनजंगा और कैलाश और हिमालय
झिलमिलाते अनेकों चांद सूर्य...

इसी प्रकार इनके व्यंग्य-चित्र, सामाजिक धड़कनें, राजनैतिक विचार-प्रवाह, छायावादी कल्पनाएं आदि सब इनके पदों में रमणीयता का रूप लेकर उभरे हैं। यद्यपि इनकी कविताएं छन्द हीन होकर मात्र गद्य गीत हैं तथापि उनमें काव्य-संगीत और काव्य-रस की कमी नहीं।

श्री मोहन लाल मोतियाल का जन्म सम्वत् १९५८ वि० में जम्मू प्रान्त के राजौरी स्थान में हुआ। जीवन के आदर्शमय वातावरण में रहकर उन्होंने देशप्यार और समाजहित की अनेक कविताएं हिन्दी में लिखी हैं। जिनमें इनकी मनोभूमि और अन्तस्थल सम्वेदनाए प्रकट होती हैं। इन्होंने भी सन् १९२० से ही लिखना शुरू किया था किन्तु लिखकर भी ये प्रकाशन लिप्सा से सदा उदासीन ही रहे। इसी कारण इनकी रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में अधिक स्थान नहीं पा सकीं। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए—

जान गंवावे कष्ट सहे, वह पर उपकार कमाता है।
जब नाश करे जल अपना तब औरों की प्यास बुझाता है।
चक्की में पिसता है आटा और घूंसे मुक्के खाता है।
जब आग की आंच पै पकता है जीवों की भूख हटाता है।

इनकी एक लम्बी कविता 'नौका' को व्यापक प्रसिद्धि मिली थी। मोतियाल जी के पास इनकी स्वरचित कविताओं की एक डॉयरी भरी हुई है, जो हिन्दी साहित्य की निधि है। यदि प्रकाशित हो पाएं तो जम्मू के प्राचीन हिन्दी साहित्य की मूल्यवान धरोहर बन सकती हैं। इनकी कविता में अधिकतर देश भक्ति, समाज सेवा और चरित्र-निर्माण के अलौकिक संदेश भरे हैं।

पं० हरिश्चन्द्र जम्मू के पास के गांव पलौह्ड़ा के निवासी थे। इनके जन्म सम्वत् का निश्चित पता नहीं परन्तु ये स्व० कवि श्री हरदत्त जी के पिता थे। अपने समय में वे भी ब्रज

भाषा में कविता पद लिखते थे। इनका एक छोटा सा प्रचलित पद श्री पीताम्बर शास्त्री पारखी के पास सुरक्षित है। कविता इस प्रकार है—

हारिओ न हिमद विसाईयो न हर नाम
जाहु विध राखे राम ताहु विध रैहो री,
इक्क दिन सम्मन के थे हेठ घोड़े हाथ बाजे
बाजते नगारे साथ थे··· ··· ···
× × ×
एक समैं आयो आप पर बैहोरी
देखे अब के जमाने मैं अपने बेगाने

श्री न० र० भारद्वाज के जन्म सम्वत् अथवा परिचय का कुछ भी पता नहीं चला केवल इनके हाथ के लिखे हुए हिन्दी कविता के नौ पद्य जो ७-५-१९४५ को लिखे गए थे नागबनी के एक युवक श्री राजऋषि शर्मा से उपलब्ध हुए हैं। इन सब पद्यों में हिन्दी का महत्त्व, विदेशी नकल की निन्दा तथा भारतीयता अपनाने पर बल दिया गया है। कविता की भाषा उर्दू और ब्रज शब्दों से युक्त होकर अधिक चलताऊ जैसी बन गई है। उदाहरण के लिए दो पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

माध्यम हो अंग्रेजी अथवा हिन्दोस्तानी
कई बार जोर शोर से हुई बहस इस पर
कोई बोले हिन्दोस्तानी पै और कोई इंगलिश पर
बहुतेरा जोर मारा, पर आई बात किस पर
माध्यम हिन्दोस्तान की है ठीक अपनी बानी।
मुमकिन नहीं कि बदले किसी देश की जबान
मुगलों ने भी मारा था जोर दिलो जान
कितनी पढ़ा अंग्रेजी बताओ हिन्दोस्तान
देखा है बदला जो कुछ यह हुक्म की मेहरबानी

गंगादत्त विनोद, इन पक्तियों के लेखक, का जन्म सन् १९२० में जम्मू के पास अम्बघरोटा नगर में पं० हाकिम चन्द्र शर्मा के घर हुआ। शास्त्री पंजाब विश्वविद्यालय से, एम० ए० (द्वय) आचार्य दोनों बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में रहकर किये तथा जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय से पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। कविता लिखना सन् १९३६ से प्रारम्भ किया। 'दीपक', 'भारती' तथा 'उषा पत्रिकाओं में उन दिनों कविताएं छपती रहीं। सन् १९४७ तक लिखी गई कविताओं का एक संग्रह 'उल्लोल' के नाम से छप चुका है।

कविताएं अधिकतर राष्ट्रीय, छायावादी तथा निराशावादी हैं। परतन्त्रताजन्य कुण्ठाओं की संवेदनाएं भी मेरी कविताओं में प्रस्फुटित हुई हैं। स्व० डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने मेरी कविता पर अपने विचार प्रकट करते हुए यों लिखा था—उल्लोल में उनकी जो कविताएं

प्रकाशित हो रही हैं, उनमें उनके भावुक हृदय का परिचय मिलता है…वे सुकुमार भावों को आसानी से व्यक्त कर जाते हैं…स्वाभाविक भावोद्गार ही अधिक मिलता है।

इन शब्दों द्वारा ही मेरी कविता का समीक्षा पक्ष स्पष्ट हो जाता है इसलिए अपने पर अधिक लिखना मैं अनावश्यक समझता हूं।

कु० शकुन्तला सेठ लगभग सन् १९४० में हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में उतरीं। इस समय इन्होंने शास्त्री तथा प्रभाकर जैसी परीक्षाएं महिला विद्यापीठ जम्मू से पास कर ली थीं। यह शिक्षा पाकर इन्होंने 'उषा' नामक हिन्दी पत्रिका (मासिक) जम्मू से प्रकाशित करना प्रारम्भ की जो १९४७ तक चलती रही।

इस पत्रिका ने उस युग में कई हिन्दी कवि और कवयित्रियों को प्रकाश में लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कु० शकुन्तला सेठ, कु० सुशीला तुली (अब राज भल्ला), कृष्णा गुप्ता, शकुन्तला माकन तथा कृष्णा कपूर आदि की कविताएं पत्रिका में प्रायः छपा करती थीं। होनहार बालिकाएं पहले तो एक साथ महिला ओरियण्टल विद्यापीठ जम्मू में पढ़ती रहीं। वहीं से शास्त्री, प्रभाकर पास करके यह इकट्ठा बैच हिन्दी-कविता के रगमंच पर उतरा। साथ-साथ समाज-सेवा में भी पूरा योगदान देता रहा। सन् ४० से ४७ तक इस महिला दल ने हिन्दी कविता के क्षेत्र में पर्याप्त लिखा और हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया। यह देखकर उस समय कोई भी व्यक्ति हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना कर सकता था किन्तु यह दौर भी कुछ सीमित समय के लिए ही था, यह तथ्य आगे चलकर स्पष्ट हो गया जबकि नये युग की आंधी ने आकर एक नया ही वातावरण पैदा कर दिया। ये बालिकाएं भी समस्याग्रस्त जीवन में पड़ कर अपना क्षेत्र छोड़ बैठीं और घर-गृहस्थी या आत्म-स्थिरता में ही बरबस उलझ गईं।

कु० शकुन्तला सेठ ने भी इन दिनों कई हिन्दी कविताएं लिखीं। इनका क्षेत्र पूर्ववत् बना रहा और अब भी है। उषा के सम्पादन के साथ ही ये महिला ओरियण्टल विद्यापीठ का प्रशासन भार भी वहन करने लगीं। इस समय भी उसी विद्यापीठ का संचालन कर रही हैं। कविता साधना जैसी ४७ के पहले थी वैसी ही अब भी चल रही है। कविता में प्रौढ़ता, सौन्दर्य, माधुर्य और भावात्मकता है। भाषा संस्कृतनिष्ठ तथा प्रवाहशील है। इनकी कविता का एक एक उदाहरण प्रस्तुत है—

पग आगे आगे बढ़ता है / और बढ़ती जाती निर्जनता / मेरे कानों में रोती, / मेरे ही उर की निर्ममता/जीवन ने मुझ से खेल किया / मैं जीत गई कुछ हार गई / जग ने उपहास दिये मुझको/ मैंने जीवन-कन वार दिये।

कु० सुशीला तुली हिन्दी प्रचार के साथ साथ समाज-सेवा में अधिक बह गईं। जिससे प्रारम्भिक हिन्दी कविता साधना बीच में ही छूट गई। तथापि उस युग की लिखी हुई इनकी कुछ हिन्दी कविताएं पर्याप्त मार्मिक हैं। इनका जीवन सेवा, आदर्श और सादगी का प्रतीक है। कु० सुशीला तुली ने अब सन्यास ले लिया है इस लिए अपना नाम बदल कर सुपर्णायति रख दिया। अब जम्मू के कोटली कालोनी के आर्य समाज भवन में वानप्रस्थी जीवन व्यतीत कर रही हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है—

क्यों देता दुःख यह मुझको
प्रियतम का निर्मम रोना
क्यों आंसू आली आते
प्यारे की याद दिलाते
ये सूनी घड़ियां आतीं
पल पल में ध्यान दिलातीं
क्यों करुणा का दिन आया
संग तू भी पीड़ा लाया।

श्रीमती राज तुली भी उपर्युक्त छः कर्मठ बालिकाओं के ग्रुप में थीं। ये सुन्दर कविता लिखती थीं : इनकी कविताएं उन दिनों 'उषा' और 'भारती' में छपती थीं। आप उन दिनों नये उदीयमान साहित्य-मण्डल की साप्ताहिक साहित्यिक गोष्ठियों में भी कविता पढ़ती थीं। विशेषकर राज भल्ला उम्र में छोटी होती हुई भी हिन्दी की प्रौढ़ पद-रचना रचकर गोष्ठियों में मधुर सगीत के माध्यम से प्रस्तुत करती थीं जिससे इन्हें श्रोताओं की काफी दाद मिलती थी। अब ये गृहस्थी के सफल जीवन में सन्तुष्ट और व्यस्त जीवन व्यतीत करती हुई भी इस क्षेत्र में साधनारत हैं। इनकी कविता में अन्तर्वेदना, आत्म-विश्लेषण और अन्तर्द्वन्द्व बड़ी मार्मिक भाषा में प्रस्फुटित हुए हैं। भाषा अलंकारिक एवञ्च मधुर है, जिसमें स्वाभाविक प्रवाह और सन्तुलन है। कण्ठ में संगीत लहरी और भाषा में लोच दोनों छलक रहे हैं। एक कविता का उदाहरण इस प्रकार है—

कुछ भूल हुई, कुछ ठगी गई।
पर तुम क्यों भूले जाते हो।
मैं अपनी ज्वाला में जलती।
पर, वंचक ? तुम मुस्काते हो।

दीनू भाई पन्त जी का जन्म जम्मू से कुछ दूर बसे पैन्थल गांव में हुआ। किशोरावस्था में घर से भाग कर हरिद्वार की किसी संस्कृत पाठशाला में 'प्रथमा' परीक्षा तक पढ़े। फिर जम्मू के रघुनाथ संस्कृत महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहां से प्राज्ञ पास कर स्वतन्त्र रूप से प्रभाकर परीक्षा पास कर ली। उन दिनों के स्वतन्त्रता संग्राम के वातावरण का भी इन पर प्रभाव पड़ा। आप हिन्दी कविता और हिन्दी राष्ट्रीय गीत लिखने के साथ कुछ जीवन सम्बंधी कविताएं भी लिखने लगे। इनकी कविता संस्कृत-निष्ठ, अनुभूतियों से परिपूर्ण तथा क्रान्ति के भावों से ओत-प्रोत होने के कारण कुछ उत्तेजक बन पड़ी थी जो उस समय के राष्ट्रीय विचार-धारा के युवक के कण्ठ से स्वतः प्रवाहित हो चली। इनकी कविताएं 'दीपक', 'भारती' और 'उषा' में छपती रहीं तथा कवि सम्मेलनों में भी रंग लाती रहीं। भाषा का स्वाभाविक प्रवाह, पद-संरचना में लालित्य और अन्तर्द्वन्द्वों की उठान इनकी कविता की विशेषताएं थीं। एक उदाहरण देखिए—

युग चला चला युग चला चला / धक् धक् ज्वलित प्राण / अमित तेज अखिल वेग लिए / युग चला चला

पूरव में पश्चिम में
उत्तर में दक्षिण में
दिग दिगन्त भू नभ में
प्रलयंकर तोपों से
विस्फोटक गोलों से
दगी सलामी
युग चला चला

त्रस्त ध्वस्त जड़ जंगम
सागर उर उथल पुथल
दिल दिल में हलचल
मन मन में चहल पहल
सम्बलमय पदाक्षेप से
डोले गिरी फूटी चट्टानें
कंपी धरा
युग चला चला

सन् १९३९ से १९४४ तक हिन्दी में लिखते रहे तथा हिन्दी साहित्य मण्डल की गोष्ठियों में भाग लेते रहे तदनन्तर डोगरी साहित्य समाज के संगठन से स्थापित डोगरी संस्था के आयोजन में चले गए तब से आज तक डोगरी में ही लिख रहे हैं।

श्री केहरि सिंह मधुकर का जन्म जम्मू नगर से कुछ दूरी पर गुड़ा-सलाथियां ग्राम में सन् १९३० में हुआ। हाई स्कूल पास करके कॉलिज में भर्ती हुए। किन्तु थोड़े समय के बाद ही कॉलिज छोड़ कर हिन्दी साहित्य में आ गए। सन् १९४५ में हिन्दी में कविता लिखने लगे। कविता की भाषा स्वच्छन्द प्रवाहपूर्ण और सन्तुलित पदावली से युक्त है, जो हृदय के सहज उद्गारों को अनायास ही बहा लेती है। कविता में सौन्दर्य और माधुर्य विशेष हैं तथा अनुभूतियां स्वाभाविक हैं। स्थान-स्थान पर रमणीक कल्पनाएं भी संजोई मिलती हैं। उन दिनों मधुकर की 'नर्तकी' नामक हिन्दी कविता बड़ी प्रसिद्ध हो चली थी। जिस-जिस कवि गोष्ठी में उसे पढ़ा श्रोता झूम उठे। उसका एक पद्य इस प्रकार है—

नाच रही है आज नर्तकी
मुझे कहते हैं विष का प्याला
मुझे कहते हैं भुजंग काला
ये अंधे जो समाज वाले
तन के उजले मन के काले
मरते जाते जीते जाते

अब इनका सन्मान कहां है
मेरा यह अपमान कहां है
खाकर मेरे पांव की ठोकर
मांग रहे कुछ मुझ से रोकर
माला पहराते नोटों की
नाच रही है आज नर्तकी

इतनी हिन्दी कविता साधना के पश्चात् मधुकर जी डोगरी के नवोत्थान का शंखनाद सुन उसी में वह गए एवञ्च वहां जाकर भी इन्होंने डोगरी कविता के अपूर्व ग्रन्थ रत्न उसे प्रदान किये। इसी क्षेत्र में अब भी इनकी साधना सतत गति से चल रही है।

श्री वेदपाल दीप ने सन् १९४० के लगभग हिन्दी कविता लिखनी शुरू की। कई एक गीत 'भारती' में छपे भी थे और एक शृंगारिक खण्ड काव्य भी लिखा जो श्री जयशंकर प्रसाद की 'आंसू' रचना की शैली पर था। वह एक वियोगी के हृदय की तड़प का साकार चित्र ही था। इसके कुछ अंश हिन्दी साहित्य-मण्डल की गोष्ठियों में भी कवि द्वारा पढ़े जाते रहे। इस खण्ड काव्य की उन दिनों काफी चर्चा भी फैली किन्तु कालान्तर में यह एकदम अनुपलब्ध हो गया, अब कहीं भी नहीं मिल पाया। दीप जी अधिकतर इन्किलाबी कविताए लिखते थे उनकी एक कविता की पंक्ति ही केवल मुझे याद है—

मचलता तूफान आया
धरती के उस छोर छाया

दीप जी इसी प्रकार एक दो वर्ष हिन्दी कविता की साधना के अनन्तर डोगरी कविता के क्षेत्र में उतर पड़े वहां भी इन्होंने निरन्तर साधना द्वारा नाम कमा लिया है।

गीत अभी जारी है

उपर्युक्त विवरण द्वारा सन् ४७ के पहले के जम्मू के हिन्दी-कविता-क्षेत्र की कुछ झलकियां प्रस्तुत करने का मैंने प्रयत्न किया है। यह पढ़कर पाठकों के हृदय में यह जानने की इच्छा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि उस समय का यह कवि समाज हिन्दी कविता क्षेत्र में ही निरन्तर क्यों नहीं बना रहा। एवञ्च आगे चलकर यह बिखराव किन कारणों से पैदा हुआ। इस सम्बंध में कई कारण हो सकते हैं, जिनकी चर्चा किसी दूसरे लेख में की जा सकती है। इतना तो आश्चर्य अवश्य है कि इतने निष्ठावान् और हिन्दी के प्रति प्रारम्भ में समर्पित जीवन व्यतीत करने वाले कवि अकस्मात् क्यों इस क्षेत्र को छोड़ कर डोगरी में चले गए तथा जो इसी में बने रहे, उन्होंने भी क्यों कविता साधना एक प्रकार से छोड़ ही दी, जैसा कि ऊपर कहा ही है कि इसके कारण लिखने के लिए पृथक् लेख की आवश्यकता होगी।

———

इस अंक की दो कविताएं

बावजूद पंखों के

—दिविक रमेश

एक हवाई जहाज
घर्राता है
घर की सीध में
क्षण भर को
घर
आकाश हो जाता है।

जाने कब तक
तैरता रहता हूं
निश्चेष्ट
अदृश्य धाराओं में
उदास
किसी व्यक्ति-सा
डूबा
काल मुक्त
मुझमें आवाज़ खो जाती है।

किसी बांस के सिरे
बैठा
एक पक्षी उड़ नहीं पाता
उड़ नहीं पाता
बावजूद पंखों के
भीगे पंख
उसे उड़ने नहीं देते
या बहाना ही हो
कौन जाने !

मेरे बच्चे का मुंह
जैसे विमुख नहीं होने देता
ज़िन्दगी से।

चोंच में
दबा हो तिनका
तो उससे ज्यादा खूबसूरत
कोई पक्षी नहीं होता।

———

अगस्त १९८०

—रतनलाल शांत

कपासी बादल !
कितने दिनों कांचों के पीछे से लुभाते रहे
आज रात
बिना पुकारे
रोशनदान उढ़का देखकर
नीले आसमान सहित घुस आए हो
तो पड़े रहो ।

सुनो
अंधेरा काजल नहीं राख है
जिसे अपनी आंखों में खुद झोंककर
लोग आंख मींचने का बहाना पाते हैं
कुछ देर
फिर दो-चार हाथ दाएं बाएं मार कर
सो जाते हैं
कुछ और देर ।

सुनो
रात के सन्नाटे में नौजवानों ने
अखाड़ाई शंख फूंके हैं
मेरी रीढ़ में त्रिशूल और फरसा
बजाती हुई
कुंडलिनी झनझनाने लगी है ।

पेट दोनों हाथों से थामे
मैं सहम कर करने लगा था इंतजार ।

सुनो
रौरव से लौटे कुहरामी प्रेत
और रोज़े-क़यामत के दादे
दौड़ रहे हैं सरपट
उन दीवारों में आग लगा रहे हैं
जिनके आइनों में उन्हें अपने चेहरे
बदनुमा नजर आए ।

सीलन भरी कालिख वाली
पस्त दीवारों में ।

श्वेत पुती ऊंची दीवारों के सामने
वे अचरज में खड़े रहेंगे
हड़बड़ाएंगे
कि सुबह होने से पहले कब्रों में
उतर जाएंगे ।

———

हस्ताक्षर नए··नए···

मैं और शहर

—वीरेन्द्र मन्हास

मैं तो अजनबी सा आया था
इस शहर में
हां मगर तूने किया था स्वागत मेरा
पहले पहल।

फिर धीमे-धीमे तू मिलाने लगा
मुझे अपने दोस्तों के साथ
तेरी आवाज ने जोड़ दिये कई नाम
मेरे नाम के साथ
तेरे हाथों ने जोड़ दिये कई हाथ
मेरे हाथ के साथ
जो तेरा दोस्त था
वह मेरा दोस्त बनता गया
तेरा हर दुश्मन
मेरे साथ भी ठनता गया
हजार आंखों से पहचान हुई मेरी
हजारों आंखों से पहचान गयी मेरी
रास्ते चलते दुआ सलाम चलने लगे
कई होंठ स्नेह को बास लिये खिलने लगे
कोई बढ़ के हाथों में हाथ भरने लगा
औ' कोई हुमक के
अंक में अपने भरने लगा।

अब तो जैसे पूरे शहर में
बसता हूं मैं
अब तो जैसे
पूरा शहर बसता है मुझमें
मैं तो अजनबी सा आया था
इस शहर में
हां ! मगर तूने···!

———

इस अंक की दो कहानिय

बावन पत्ते और एक जोकर

—मंजुल भगत

गली का मोड़ पार कर श्रीमती शालिनी धवन ने व्यग्रता से गियर बदला और पांव एक्सलरेटर पर दबा दिया। गाड़ी ने रफ्तार पकड़ ली। मन गाड़ी के साथ उड़ चला। घर, घर की बाल्कनी और बाल्कनी से चिपकी डेढ़ वर्ष की बिलखती सोनू, सब पीछे छूट गया। गाड़ी स्टार्ट करने से पूर्व एक संक्षिप्त-सशंकित-सी दृष्टि, शालिनी ने घर की बाल्कनी पर डाली अवश्य थी। रेलिंग पर कसी सोनू की नन्हीं मुट्ठियां, उन्हें खोंच-तान कर अलग करती नयी आया, फिर बग़ावती आक्रोश में पीछे की ओर बल खाती सोनू, अंतिम प्रहार के रूप में उसकी दारुण चीख। सब कुछ देखा सुना था, श्रीमती धवन ने। पल भर की हिचकिचाहट फिर उसका सफाया करती बासी घरेलू गंध की स्मृति। रसोई में करेलों की कसैली खुरचन, भिन्डी की कटी मुंडियां और विम-सोडे में डूबे झूठे बर्तनों से उठती उबकाई भरी भभक। कहीं पांव रखने की जगह नहीं। फिनाईल का पौचारा मारती माई। "यहां से नहीं गुज़रना बीवी जी, आपने तो 'पांव' बना दिये फिर से," की चिड़चिड़ी हिदायतें। कुछ देर में धोबी भी सर पर गठरी धारे नमूदार हो जायेगा। घर पर रही तो वह भी फंस जायेगी हिसाब-किताब में, नहीं तो आया—खानसामा निबट ही लेंगे। मन, घर से भागूं-भागूं करने लगा था। आया अलग राग अलाप रही थी "बेबी को थोड़ा पकड़ो न, हम कपड़ा-बिपड़ा साबुन-पानी में डुबो दें तब-तलक।" घड़ी की सुइयों से भी धीमी सरक रही थी आज घर की समय-सारिणी। गाड़ी का स्टियरिंग-व्हील दायें हाथ में थामते ही एक उन्मुक्त स्फूर्ति-सी भर गयी थी शरीर में। मशीन को अपने आधीन करने, उस पर प्रभुत्व की सामर्थ्य को महसूस कर सकने का एक अलग ही नशा है जो शालिनी पर छा गया।

"समीर, तुम्हें आज यहीं चौराहे पर उतार दूं? मुझे आज क्लब जल्दी पहुंचना है।" पति से उत्तर पाने के पूर्व ही पांव ब्रेक पर था। पानी पर तैरते आते जहाज की सी सफाई से, गाड़ी रुक गयी। उसकी पत्नी गाड़ी उम्दा चलाती है, सोचते-सोचते, समीर उतर पड़ा।

गियर बदलने की पहचानी-सी आवाज़ और अभ्यस्त हरकत हुई। गाड़ी तैरती हुई आगे बढ़ गयी। कोई पहचानने वाला, दर्शक के रूप में साथ होता तो 'अच्छा, बाय', 'शाम को जल्दी आना' जैसे औपचारिक जुमलों के लिये, दोनों को मुख बरबस खोलना ही पड़ता।

गियर के साथ ही शालिनी, अपनी मनःस्थिति को भी किस सफाई से बदल ले जाती है, यह तथ्य सदा ही समीर को विस्मित करता रहा है। एक बात और भी। उनके क्लब में, औरत को ढालने के लिए जैसे, कोई सांचा है, जिसमें से हर नयी मेम्बर को गुज़रना ही पड़ता है। झुंड में देखने पर, एकाएक, शायद वह अपनी पत्नी को दूर से पहचान भी न पाये। वही, विदेशी शिफान की सरसराती साड़ियां, गले में सच्चे मोतियों की लड़ियां, बांह पर झूलता, चमकीला, चमड़े का बैग जो भीगे-गीले होने का भ्रम देता और पांव में नुकीली एड़ियों वाले 'स्टीलेटोज़'। अपनी पत्नी को नौकरी करने देने के वह खिलाफ है। 'क्यों ?' शालिनी के इस 'क्यों ?' का उत्तर वह पत्नी को तो क्या, स्वयं को भी नहीं समझा पाया है। 'घर पर, शालिनी की मौजूदगी से काम और बिखर जाया करता है। सहेलियों के झुंड के झुंड और उनका जमाव। हर एक घण्टे में चाय-काफी की फरमाईश और नये टी-सैट की नुमाईश। नौकर भी उठते-संवारते खीझ उठता है। मां को घर पर देख सोनू भी आया के पास नहीं टिकती। वह बैठक की रौनक में शरीक होना चाहती है। कितना भी दरवाजे बंद करो, दोपहर को सोती नहीं। दूसरे कमरे से आती, खिलखिलाहटों में से अपनी मां की आवाज़ पहचान चौंक जाया करती है। शालिनी घर पर न हो तो, सोनू को सुला कर, आया कितने ही काम निबटा लेती है। 'बच्चा निगलैक्ट होता है,' कहते समय भी वह थूक गटकने लगता है। बच्चे को आखिर, क्या फर्क पड़ता है कि, मां उसे दफतर में बैठकर निगलैक्ट करे अथवा क्लब में बैठकर। अभी तो चार घण्टे क्लब में जमकर ताश होगा फिर, हैल्थ-क्लब की हिदायतों के अनुसार कुछ हल्का-फुल्का चुग कर, वे लोग दुकानों के झरोखों की सजावट को आंखों में भर लेने के लिये निकल पड़ेंगी। दोपहर का कोई 'शो' भी पकड़ सकती हैं। फिर, शालिनी, समीर को दफ्तर से उठा लेगी। एक साथ प्रवेश करने और निकल पड़ने को ही शायद उन्हें घर चाहिये। फिर संध्या के सामाजिक तकाज़े भी तो हैं, जहां उन दोनों का साथ-साथ दिखलायी पड़ना आवश्यक है।

'मैं इतना कमा रहा हूं फिर तुम्हें क्या ज़रूरत है और कमाने की ?' इस दलील में भी दम नहीं। शालिनी को हरदम और रुपयों की दरकार रहा करती है। शालिनी यदि, नौकरी कर भी ले तो दफ्तर भी क्लब में तब्दील होने लगेगा। आज शाम को घर पहुंचेगा तो पत्नी से मां के पत्र का जिक्र करेगा। देखो क्या कहती है। मान जाये तो, वही एक हल अच्छा है।

●

क्लब में मेज़ से सातों सहेलियां ताश पर नक्श बेगमात सी चिपकी थीं। आज ताश के खेल को उनकी बातें मात दे रही थीं। सभी के मन भटक रहे थे। श्रीमती डुडेजा का वज़न पिछले एक हफ्ते में दो किलो बढ़ गया था। वज़न लेने की मशीन गुसलखाने में ही स्थापित

होने के बावजूद वह पिछले एक हफ्ते से उस तरफ नज़र डालने से भी कतरा रही थीं। मन, बांध तोड़कर तले-मीठे व्यंजनों की ओर लपकता रहा था। आज जो दिल कड़ा करके उस पर आसीन हुई तो कांटा कहीं का कहीं अटका। उन्होंने तमाम कपड़े उतार कर फिर से वज़न लिया। कोई खास आश्वासन प्राप्त नहीं हुआ। फिर श्वास बाहर फेंक कर वज़न लिया लेकिन कोई अंतर नहीं। वह लगभग रोती हुई बाहर आयी थीं।

शालिनी धवन का सुता दियासलाई-सा शरीर उन्हें आग दिखला रहा था।

'क्या फिगर तराश रखा है शालिनी ने। क्यों भाई किसे रिझाने के लिये यह सितम किया जा रहा है ? धवन साहब तो खूंटे से बंध ही चुके हैं, चाहे चारे के पास भी न फटक सकें बेचारे।' वह भभकी।

'क्या वाहियात बोला करती हो। फिगर जेनरल अपील के लिये भी तो कायम रखा जाता है।' शालिनी तुनक गयी।

'भई तुमने कौन सा सोनू को अपना दूध पिलाया था। अब हमने तो छः-छः महीने तक चिपकाये रखा बच्चों को छाती से।' वार्तालाप सार्वजनिक स्तर पर बहने लगा।

'आखिर क्यों ? गाय-बकरी की तरह अपने को दुहाते रहने में भी क्या तुक है ?' शालिनी ने दायें-बायें, मोर्चा संभाला।

'वैसे, नौटी-नाईटीज़ तो इन्हीं के साहब लाया करते हैं, पैरिस से इनके लिये। छाती से चाहे यह किसी को चिपकाये रही हों, पहला हक देखा जाये तो बनता साहब का ही है।' किसी और ने कहा तो सब खिलखिला कर हंस पड़ीं।

'नहीं भई, हक तो पहले बच्चों का ही बनता है।'

'छोड़ यार तू अपना प्रवचन। सास को साथ रख-रख कर बिल्कुल अलग से डायलॉग बोलना सीख गयी है। बावन पत्तों में एक जोकर।'

'हां भई, औरत न हुई बंदरिया हो गयी। तू यार हिन्दुस्तानी फैमिली-ड्रामा वाली फिल्में कम देखा कर।'

'हाय ! तुमने देखी थी, वह फिल्म, अर रे···जिसका नाम बड़ा पंडिताऊ था ? छोटे से बच्चे की कैसी प्यारी एक्टिंग थी। मुझे तो बड़ा अच्छी लगता है, छोटे बच्चों की फिल्म देखना। कैसे पाले-पाले से छोने गुड्डे गुड़िया।' कहने वाली ने बड़े नखरे से तुतलाकर कहा।

'हाय ! कैसी सैक्सी लगती है, तू तुतलाते हुए।' एक ने उससे लिपटते हुए कहा।

'बच्चे किसे अच्छे नहीं लगते भई ? तुम लोगों ने 'मदर-केयर' की दुकान पर नया माल देखा ? इतनी बांकी सन-ड्रेसज हैं, बच्चियों के लिये। मैं तो एक दर्जन खरीद लायी अपनी लीना के लिये। ऐसी प्यारी लगती है पहनकर ठुमकती हुई। उसके पापा तो हंसते-हंसते पागल हो जाते हैं। दो वर्ष की उसकी सपाट छाती और बिकिनी को मात देतीं वे ड्रेसज।'

'तुम लोग उसे 'प्रीकोशस' बना दोगे— छी !' बच्चों की हिमायती महिला बोल पड़ी।

'लो फिर बोला, जोकर।'

'लीना को देखे भी साल गुजर गया। इस बार उसका जन्मदिन क्यों नहीं मनाया ?'

'हम थे ही कहां, यहां ? खजुराहो नहीं चले गये थे ?' लीना की मां ने गर्व से कहा ।

'चलो फिर तो एक और लीना की नींव डल गयी होगी ।'

'खूबसूरती बरकरार रखने के लिये बच्चा पैदा करना लाजवाब नुस्खा है, औरत के लिये । जो विशेष हारमोन उस समय शरीर में पैदा होते हैं, वे बेहतरीन स्किन-टानिक को भी मात करते हैं ।' जोकर कहलाने वाली बोली ।

'तभी तो इसने तीन-तीन पैदा कर लिये । सास के रूप में पालने वाली भी तो बढ़िया मिली है इसे । नहीं तो सब हारमोन-टानिक बेकार साबित होते ।'

'सहते भी तो हमीं हैं, सास को ।' सांस छोड़कर उसने कहा ।

'तू यार ट्रेजिडी-क्वीन का रोल भी अच्छा कर लेती है । जोकर है न, चाहे जिस टोली में जोड़ दो उसी रंग-रूप की हो जायेगी । घर पर आदर्श बहूरानी । ब्यूटी-ट्रीटमेंट के चक्कर में उत्साहित बैड-पार्टनर भी । झुंगे में तीन बच्चे भी जमा कर लिये और अब बैठकर, ताश पीटने वालियों में नसीहत भी दे डाली ।' सभी हंस पड़ीं । नहला पर दहला और तुरूप चालें । बातें, ताश से आगे ही रहीं ।

'आज क्या बाल-बच्चों की ही चर्चा होती रहेगी ?'

'और क्या ? माएं भला बच्चों को भूल सकती हैं ।' किसी ने बड़े पारसाई अंदाज़ में एलान किया । आसपास की मेजें भी भरने लगीं । घरों से छूटकर आयीं, सजी-बनी औरतें । ताश के बावन पत्ते, सबके सब बेगम के । क्लब में औरतों की खास किस्में तीन-चार ही थीं । कोई एक अलग हटकर कोई फैशन निकाल भी लेती तो दो दिन में ही उसी किस्म के तेरह नमूने और नज़र आ जाते । अलग से दिखलायी देने वाली, फिर से ताश की गड्डी में फिट हो जाती ।

●

आया ने रेलिंग पर से बच्ची की उंगलियां उखाड़नी चाहीं, तो, वह किसी पक्षी के पंजे सी कसी थीं ।

'ऐई सोनू । बाप रे ! तू बच्ची है कि, एकदम चील रे ! छुड़ा हाथ । नहीं तो फेंक दूंगी धम्म से नीचू ।

ममी गयी क्लिब । समझी ? रोने से वापिस आ जायेगी क्या ? ममी रोती क्या उधर । वो खेलती उधर—तीन पत्ती, सोडा पीती, तू क्यों मरती इधर उसका वास्ते ? अपुन तो क्लिब बैठती जाके और हमकू शिक्षा देती—हां, आया सोनू को अपना बच्चा सरीखा देखना, ठीक है ? छी ! अनाथ-सरीखा छोड़ के क्यूं जाती फिर ?'

इन वचनों के साथ, आया ने एक-एक करके सोनू की नन्हीं उंगलियों की गिरफ्त खोल ली और रेलिंग से अलग हट गयी । बच्ची का रोना धीमा पड़ा । गाढ़ी-गाढ़ी हिचकियों के बीच उसने एक निढ़ाल सा प्रश्न किया—

'मम्मी कां गई ?'

'क्लिब ! और कहां जायेगी वो ?'

'पापा कां ?'

'आपिस।'

'मम्मी कां ?'

'क्लिब ! अब्बी चुप्प।'

दोहराये हुए प्रश्न और उत्तर की निरन्तरता के बीच आया ने बच्ची को नीचे फर्श पर बिठला दिया और साहब और मेमसाहब का बिस्तर दुरुस्त करने लगी। तकियों को थपका, चादर में से सलवटें निकालीं और ऊपर मखमली पलंगपोश ढक दिया। बच्ची टुकुर-टुकुर मां-बाप के बिस्तर पर से सलवटें निकलती देखती रही। गालों पर आंसुओं की लकीर मैली होकर ठहर गयी। उसकी सुबह की चपलता गायब हो चुकी थी। एक लाचार समझौता मुख पर पुता था। हाथ-पांव में हथियार डाल देने की शिथिलता व्याप गयी थी।

'आ जा थोड़ी देर सुस्ता ले, इधर।' आया ने दरवाज़े की कुंडी चढ़ा ली और सोनू को लेकर साहबी बिस्तर पर पसर गयी। आया का तमाम दिन फिर मशीनी तत्परता और आलस्य भरी तंद्रा के बीच डोलता गुज़रा। बच्ची से उसका संवाद केवल घड़ी देखकर, एक-एक कर होता रहा।

'सूप लेगी ?'

'अं ? अं !'

'दाल-भात खायेगी ?' 'अं ? न।'

'अंडा लेगी ?' 'दूध दूं ?'

बच्ची अनमनी सी अं आं कर देती।

एक समय था जब आया को बच्चे से प्यार हो जाया करता। उस समय आया की वय कुल पच्चीस-छब्बीस की ही थी। बच्चे से उतना लाड-प्यार, ममता-माया बहुत दुःख देता। साहब का तबादला हो जाता या मेमसाहब किसी बेकार-सी बात पर खीज कर नौकरी से अलग कर देती। वह नयी नौकरी पर बिछुड़े बच्चे को याद कर-कर खूब ही रोती। नयी मालकिन कहती आया मनहूसियत फैलाती है, उनके बच्चे को देख-देख कर रोती है। आया भी बहुत कुछ सीख गयी है। अब वह बच्चे को इस तरह देखती है जैसे वेश्या ग्राहक को। बस काम और दाम से मतलब। वह जानती है, कुल मिलाकर वह कोई बुरी आया नहीं है। उससे पहली वाली तो आंचल के खूंट में अफीम की पुड़ियां बांध कर रखती थी। खानसामा बोलता था, बच्ची ज़रा रोयी तो फट से चटा देती। वह तो कहो उसी ने देख लिया एक दिन और उसकी छुट्टी करवा दी। थी भी इतनी खोटी कि, आये दिन खानसामा की पेशी करवाती रहती, साहब के सामने। 'खानसामा हमको जली रोटी देता है ढोर-डंगर का माफिक। दाल में पानी मिलाकर देता है'। खानसामा करता भी था यही। साली कमसिन जवान और खानसामा को पास न फटकने दे ?

शाम को रेलिंग से सटी खड़ी आया की गोद से, बच्ची ने मोटर को घर में प्रवेश करते देखा। पल भर को वह चिहुंक उठी, 'मम्मा···मम्मी।' फिर आया की ओर मुख घुमा कर अनायास ही बोल पड़ी 'छी: मम्मी तब (क्लब)!'

आया होंठ सिकोड़ कर हंस दी और बच्ची को अपने से सटा चूम लिया।

ऊपर आने पर बच्ची पिता को देखकर फिर चिहुंकी, फिर घबरा कर आया के चेहरे को ताकने लगी।

'जाओ सोनू, पापा पास जाओ।'

बच्ची ने ललक कर बाहें फैला दीं। समीर बच्ची को गोद में समेटे सोफे पर बैठ गया। बच्ची गुमसुम सी बैठी रही। शालिनी भी पास ही सोफे पर पसर गयी।

'आया, रामा से कह दो, चाय ले आये। बहुत थकान हो गयी है।' समीर ने जेब से मां का खत निकाल कर पत्नी के सन्मुख कर दिया।

'क्या है?'

'पढ़ लो न।'

'तुम ही बता दो।'

'मां जी का खत है। वे दोनों यहां आना चाहते हैं।'

'क्यों?'

'उन्हें सोनू बहुत याद आती है। यहां रहकर उससे खेलना-बोलना चाहते हैं, किसी भी दादा-दादी की तरह।'

'वे लोग सोनू की ट्रेनिंग एकदम चोपट कर देंगे। उनके आते ही, सोनू हरदम गोदी ही गोदी मांगा करती है। जब देखो तब, बस सीने से चिपटाये घूमेंगे। बाबू जी तो भूल ही जायेंगे अपनी उम्र। दे आर फार ऐवर क्लाउनिंग!'

'क्यों नाहक इस विशेष सम्बन्ध को पनपने देने से रोकती हो तुम?'

'मैं तय्यार होने जा रही हूं। मेहता के यहां नहीं पहुंचना? अब छोड़ो तुम भी सोनू को। चाय पी लो और तय्यार हो जाओ।' शालिनी तुनक कर उठ गयी।

समीर प्याले में चाय उंडेलने लगा तो, बच्ची ने स्वतः ही बाहें आया की ओर उठा दीं। उसकी बेजान-सी हरकत में कोई पुलक न थी। आया ने भी बच्ची को यूं समेट लिया, जैसे कोई क्रेन, बेसरोकार सी, वज़न समेट रही हो। या फिर बाहर से आकर कोई अपना कोट खूंटी पर टांग दे। खूंटी और कोट का परस्पर सम्बंध आया और बच्ची में स्थापित हो गया। शालिनी तय्यार होकर आ गयी तो बच्ची पर 'टाटा छोनू···टाटा छवीटी' की बौछार हुई। सोनू अपनी दोनों मुट्ठियां एक-दूसरे में कसाये वैसे ही ताकती रही। 'चलो अपुन बालकनी पर से, टा-टा करेंगे, उन लोग कू।' आया ने कृत्रिम उत्साह से कहा।

इस बार सोनू ने रेलिंग नहीं जकड़ी। उसने 'मम्मी कां?' 'पापा कां?' भी नहीं कहा। वह रोयी भी नहीं।

●

रात, सोते समय, शालिनी समीर को दिन के ताश की हार-जीत का ब्यौरा बतलाती रही थी। सुनते-सुनते समीर ऊंघ गया। कुछ ही देर में एक बेमतलब-सा सपना आकर उसकी पलकों से विंध गया। ताश की गड्डी के, बादशाह-बेगम-गुलाम बाहर निकल आये हैं, और कुर्सियों पर बैठकर ताश खेलने लगे हैं। बाक़ी की गड्डी में केवल इक्के और दुग्गियां हैं। इक्के में से सोनू की तस्वीर झांकने लगती है। वे लोग इक्के की सोनू को बार-बार मेज़ पर पटक देते हैं। इक्के की सोनू दांये से बांये और बांये से दांये फिकती रहती है। कभी अपने ऊपर दुग्गी के आ गिरने से ढंक भी जाती है। तभी गड्डी में से अचानक जोकर निकल आता है। बेगम, बड़े प्यार से उसे, इक्के के साथ मिलाकर मेज़ पर रख देती है और विजय-दर्प से खिलखिला पड़ती है। पर यह क्या? जोकर तो सोनू के चेहरे में तब्दील होने लगा! वह तो उछलने भी लगा। दोनों सोनू मेज़ पर उछल-कूद मचाने लगते हैं। कलाबाज़ियां खा-खाकर हंसते हैं। बादशाह-बेगम के चेहरों पर खौफनाक तेवर उभरने लगते हैं। उनके माथे पर क्रोध की खड़ी लकीर कांपने लगती है। दोनों सोनू सहम जाते हैं। तभी बादशाह-बेगम के चेहरे तब्दील होने लगते हैं। वे बूढ़े हो जाते हैं और अचानक पोपले मुख से ठठा कर हंसने लगते हैं। दोनों सोनू भी खुशी से उछलने लगते हैं।

'अरे, पागल हो गये क्या? ऐसे हंस क्यों रहे हो?' शालिनी ने उसे झकझोर दिया। नींद टूटने पर भी, समीर की गुदगुदी नहीं जाती। उसने अभी-अभी स्वप्न में बादशाह-बेगम को बुढ़ाते-बुढ़ाते, सोनू के दादा-दादी में तब्दील होते देखा है। वे सब मेज़ पर एक साथ नाच रहे थे। मेज़ पर सुरक्षित गर्माहट का एक सुनहरा घेरा बन गया था। समीर को लगा है कि, टीक की लकड़ी के उस दोहरे पलंग पर, सुखद ऊष्मा लिये, उसके बचपन का गुदड़ी-खेस वाला बिछौना बिछा है।

समीर ने अपने शरीर की गोल कुंडली बनायी और पुनः सो गया। उसकी मुट्ठियां सहज ही भिंच गयीं जैसे वह पुनः मां की कोख में समा गया हो। पास के कमरे से, सोनू की हृदय-विदारक चीख ने उसे फिर से झिंझोड़ दिया। वह हड़बड़ा कर एक ही छलांग में उसके कमरे में पहुंच गया।

'कुछ नहीं, साहेब। बेबी नींद में डर गयी होती। आप जाओ, सो जाओ।'

पर, वह पसीने में लथपथ वहीं खड़ा, सोनू के नन्हें शरीर को थपकती, आया की खुरदरी हथेलियां देखता रहा।

———

वह दिन

—हरिकृष्ण कौल

वह दिन भी बाकी दिनों की तरह ही शुरू हुआ था। हां, इंटर-कालेज-डिबेट में कालेज के एक लड़के ने तीसरी पोज़िशन प्राप्त की थी और इस खुशी में लड़कों को छुट्टी दे दी गई थी। मगर यह भी कोई खास बात नहीं थी। जब-तब किसी मैच, किसी त्योहार की खुशी में या किसी की मृत्यु के शोक में लड़कों की छुट्टी कर दी जाती थी और कालेज 'खुला' रहता था। कालेज खुला रहे मगर लड़के न रहें तो अध्यापक और अधिकारी अपने को सचमुच निश्चिन्त और बहुत हल्का अनुभव करते हैं। लड़कों का क्या भरोसा? दो सहपाठियों का मामूली सा झगड़ा किसी भी समय बहुत बड़े और साम्प्रदायिक दंगे में बदल सकता है।

बाकी दिनों की तरह उस दिन भी इकबाल नौ बजकर पचपन मिनट पर कालेज पहुंचा और सीधे स्टाफरूम के लॉकर से रजिस्टर और किताबें निकालने चला गया। जब उसे मालूम हुआ कि आज क्लासें नहीं होंगी तो वह लाइब्रेरी की ओर चला गया।

रोज की तरह आज भी इकबाल के सहयोगी कालेज आने पर सबसे पहले प्रिंसिपल साहब के कमरे में हाज़िरी देने पहुंचे। साहब ने बारी-बारी सबसे उनके बाल-बच्चों का हाल पूछा। फिर रोज़ की तरह ही अपने पोते टिंकू की शरारतों के किस्से सुनाए। बातचीत बहुत ही आत्मीयता और खुलेपन के वातावरण मे चलने लगी। तभी साहब के मन में विचार आया कि अन्दर कमरे में कुछ ठंड सी अनुभव हो रही है। क्यों न बाहर धूप में बैठा जाये? वहां बैठे लोगों को लगा जैसे प्रिंसिपल साहब ने उनके मुख से बात छीन ली हो। प्रोफेसर रैना ने कहा कि अप्रैल का महीना चल रहा है फिर भी मौसम में कोई खास तबदीली नहीं आयी है। आज सुबह जब उसने ठंडे पानी से नहाया तो फिर पूरे एक घण्टे तक कांगड़ी तापता बैठा रहा। मुश्ताक साहब ने प्रोफेसर रैना की बात सुनकर ज़ोर से ठहाका लगाया। जाने रैना साहब को ठंडे पानी से नहाने की हिम्मत कैसे हुई? वह खुद अप्रैल के अंत तक गर्म पानी से ही नहाता है। प्रोफेसर रैना ने प्रत्युत्तर में कहा कि मुश्ताक साहब का क्या? वह जुम्मे-जुम्मे नहाता है, रोज-रोज़ नहीं। जिसे रोज़-रोज़ नहाने की बुरी आदत हो वह इस ईंधन की किल्लत में रोज़-

रोज़ गर्म पानी कहां से ला सकता है ? इस पर मुश्ताक साहब ने रिमार्क पास किया कि रैना साहब पुराने आदमी ठहरे। अपनी जवानी के दिनों में शुद्ध दूध और घी का सेवन कर चुके हैं जिसकी ताकत उनमें आज तक बाकी है और इस उमर में भी वह रोज़ 'नहाने' का साहस कर सकते हैं। हमारी तरह आज के 'अडल्टरेशन' और 'टेनशन' के शिकार नहीं जो हफ्ते में एक दिन 'नहाना' भी मुश्किल हो जाता। लेकिन फिर अपनी बात को मोड़ देकर इतना और जोड़ा कि रैना साहब और दूसरे पंडित लोगों पर वैसे ऐसी कोई पाबन्दी भी नहीं है। यह मुसीबत भी हम मुसलमानों पर ही डाली गई है। बर्फ गिरती है तो बेचारे मुसलमान पर ही गिरती है। प्रिंसिपल भी इसी हंसी-मज़ाक से खुश हो रहा था। वह मुस्कराया और चैम्बर से बाहर चला आया। उसके पीछे-पीछे प्रोफेसर रैना, मुश्ताक साहब और दूसरे छोटे बड़े साहब भी कमरे से निकल कर लान में आ गये।

लान में पहले ही चपरासी ने रोज़ की तरह कुर्सियां सजा रखी थीं। सभी एक-एक कुर्सी के साथ खड़े हो गये और जब प्रिंसिपल अपनी कुर्सी पर विराजमान हो गया तो ये लोग भी बैठ गये प्रोफेसर रैना ने प्लेग्राऊंड के छोर पर खड़ी 'पॉपलर' की पंक्ति पर नज़र डाली। फिर उनके पीछे, दूर धूप में धुली, पिघलती बर्फ की उजली-उजली थिगली लगी, पहाड़ों की सुरमई चोटियों को देखा। फिर गहरे नीले आकाश को आंखों में समेटने की कोशिश में पलकें मूंद लीं क्षण भर बाद आंखें खोलते उसने कहा कि धूप सचमुच बहुत सुखद है। मुश्ताक साहब ने कहा कि अप्रैल में सुबह सवेरे गुनगुने पानी से नहाना भी इसी तरह सुखद होता है। रैना साहब आज़मा कर देख लें। इस पर प्रिंसिपल को टिंकू की एक शरारत याद आ गई। कल पुष्पा याने टिंकू की मां बाथरूम में नहा रही थी कि टिंकू ने अचानक दरवाज़ा खोला और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा···



इकबाल लायब्रेरी में बैठा एक अमरीकी पत्रिका के पन्ने पलट रहा था। पत्रिका का तीन चौथाई से भी अधिक भाग विज्ञापनों से भरा था और सच यह है कि उसे कोई लेख या राइटअप पढ़ने की अपेक्षा विज्ञापनों के साथ छपी खूबसूरत कारों, टी० वी० और वीडियो-रिकार्डरों, घड़ियों और कैमरों, उमदा शराब और बढ़िया सिग्रेटों, सुन्दर फर्नीचर और खूबसूरत औरतों की तस्वीरें देखने में ज़्यादा मज़ा आता था। वह खूबसूरत प्लेटों में सजे फिशचाप्स और सासेजिज़ देख रहा था कि असिस्टेंट लायब्रेरियन ने उसे सूचना दी कि कालेज आफिस में उसके नाम आया कोई पत्र पड़ा है। किसका पत्र हो सकता है ? इकबाल ने सोचा। सहसा उसके चेहरे पर चमक आ गई। कोई एक महीना पहले उसने पोस्ट-ग्रेजुएट डिपार्टमेंट में लेक्चररशिप के लिए इंटरव्यू दिया था। हो सकता है उसे इस पद के लिए चुन लिया गया हो। वह तेज़ कदमों से सीढ़ियां उतरने लगा। लेकिन सीढ़ियां उतरते ही अचानक उसका सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। दो दिन पहले ही उसकी भेंट रजिस्ट्रार और डिपार्टमेंट के हैड से हुई थी। यदि ऐसी कोई बात होती तो उन्होंने उसे बता न दिया होता ? ऐसी बातें थोड़े

ही छिपी रह सकती हैं ? खासकर श्रीनगर जैसे शहर में। तो फिर किस का खत होगा ? मित्र और रिश्तेदार उसे घर के पते पर ही चिट्ठी-पत्री लिखते हैं। तब इस पत्र का लिखने वाला कौन होगा ? श्रौर उसकी जिज्ञासा धीरे-धीरे आशंका में बदल गई। साल भर पहले वह जम्मू से तबदील होकर यहां आया था। वहां के बनिये का उस पर कोई सौ-सवा सौ रुपये बकाया था। वह बिना यह पैसा चुकाए और बिना बनिये को सूचित किए यहां चला आया था। लगता है बनिये ने अब किसी से उसका नया पता पाकर उसे एक ज़बरदस्त खत लिखा होगा। क्या करे वह ? यदि उसकी रुकी इंक्रीमेंट सैंकशन हो जाती तो वह तुरन्त बनिये को रुपये मनीआर्डर कर देता और उसके तगादों से बचता। वह कुछ शिथिल कदमों से श्राफिस की ओर जाने लगा। प्रिंसिपल और उसे घेर कर बैठे अपने सहयोगियों के पास से गुज़रते उसके मन में विचार आया क्यों न वह भी वहां जाकर साहब को विश करे, अपने सहयोगियों से हाथ मिलाए। मगर ज्यों ही प्रिंसिपल से उसकी नज़रें चार हुईं, प्रिंसिपल ने मुख दूसरी ओर फेर लिया। उसके सहयोगी मंद-मंद मुस्कराने लगे। तब उसने अपना विचार बदला और सीधा श्राफिस की ओर बढ़ गया।

वह आफिस से पत्र लेकर बाहर निकला ही था कि प्रोफेसर पंडिता ने आकर उससे सिग्रेट मांगी। सिग्रेट सुलगा कर पंडिता ने उसे नसीहत की, अथवा लड़का समझ कर मशिवरा दिया कि उसे हठ छोड़ देना चाहिए। यदि वह एक बार साहब से माफी मांग भी ले तो क्या फर्क पड़ सकता है ? छः महीने से साहब की मेज़ पर उसका कागज़ रुका पड़ा है जिस कारण छः महीने से उसकी इंक्रीमेंट बंद है। रोज़ की तरह उसने आज भी जवाब दिया कि उसने कोई गलती ही नहीं की है तो वह माफी किस लिए मांगेगा ? पंडिता ने उसे समझाया कि माफी मांगने से उसकी इज़्ज़त कम नहीं हो जायेगी पर साहब का 'ईगो' ज़रूर संतुष्ट हो जायेगा। इकबाल मुस्कराया। उसकी मुस्कराहट देखकर पडिता तनिक चिढ़ गया और जाकर लॉन में प्रिंसिपल के सामने बिछी कुर्सियों में से एक खाली कुर्सी पर बैठ गया।

रोज़ की तरह उस दिन भी घण्टा भर धूप में बैठने के बाद प्रिंसिपल साहब को अचानक ज्ञात हुआ कि धूप काफी गर्म है। बेहतर रहेगा कि भीतर कमरे में ही बैठा जाये। इस पर रैना साहब ने टिप्पणी की कि आखिर अप्रैल का महीना भी खत्म होने वाला है, कोई मज़ाक नहीं है। धूप में गर्मी नहीं होगी तो क्या चान्दनी की ठण्डक होगी ? मुश्ताक साहब ने चपरासी को डांटा कि उसे कुर्सियां चिनार की छाया में लगानी चाहिए थीं। फिर उसने कोट उतार कर श्रपनी गोद में रखा और कमीज़ के बटन खोले। यह देखकर साहब को टिंकू की एक और शरारत याद आ गई। एक दिन टिंकू को उसकी मां स्कूल के लिए तैयार कर रही थी। इधर वह उसकी कमीज़ के बटन बंद करने लगी और इधर वह ब्लाउज़ के बटन खोलने लगा। फिर एक ज़ोर का ठहाका लगा और सब उठकर भीतर चैम्बर में चले गये।

●

रोज़ की तरह उस दिन भी हैड-क्लर्क ने भीतर चैम्बर में प्रिंसिपल के सामने कागज़ात और फाइलें पुटअप कीं। फिर एकाउंटेंट ने आकर बिलों और चैकों पर रोज की तरह उसके

दस्तखत लिए। रोज़ की तरह आज भी प्रिंसिपल ने हैड-क्लर्क और एकाउंटैंट को रिटायरिंग रूम में अलग ले जाकर उनसे 'कॉन्फिडेंशल' बातें कीं। दो बजे तक सब कुछ रोज़ की तरह ही होता रहा। लेकिन दो बजते ही एक कार कालेज के बंद फाटक के आगे आकर खड़ी हो गई और ज़ोर-ज़ोर से हार्न बजाने लगी। चौकीदार ने हड़बड़ा कर फाटक खोला और कालेज के शांत और खुले वातावरण का गला घोंटती हुई एक फुसफुसाहट चारों ओर फैल गई—डी० ई० —डी० ई० - डी ई ई ई ई ई ऽ। शेड में हुक्का पीते चपरासियों और मालियों को, दफ्तर में चाय पीते क्लर्कों और कैशियरों को, स्टाफ रूम में कैरम खेलते अध्यापकों, प्राध्यापकों को जैसे लकवा मार गया। डी० ई०—डायरेक्टर ऑव एजूकेशन– अचानक सरप्राइज़ विज़िट पर आया है। जाने क्या बात है ?

आफिस से उठाकर लाये लिफाफे को इकबाल ने लायब्रेरी में आकर धड़कते दिल और कांपते हाथों से खोला। भीतर एक कागज़ था जिस पर अंग्रेज़ी में सात बार 'जय माता की' टाइप किया गया था। नीचे लिखा था कि यह शुभ संदेश प्राप्त होते ही उसके सौभाग्य का उदय होगा और उसके सभी रुके कार्य सफलता की ओर अग्रसर होंगे। साथ ही ताकीद की गई थी कि वह इस पत्र की सात प्रतियां बनाकर अपने किन्हीं सात परिचितों तक देवी मां का यह संदेश पहुंचाए। यह भी लिखा था कि जिस-जिस ने इस शुभ संदेश के प्रसार में योगदान दिया उसकी सारी मनोकामनाएं पूरी हो गईं। लेकिन जिसने ऐसा नहीं किया उसका सर्वनाश हो गया। किसी की नौकरी चली गई, किसी का कोई प्रियजन मर गया। इकबाल ने क्रोध और चिड़चिड़ाहट में लिफाफे समेत पत्र के टुकड़े-टुकड़े करके रद्दी की टोकरी में डाल दिए और कुछ समय पहले रखी पत्रिका को फिर उठाकर देखने लगा। वह कब तक पत्रिका देखता रहा, उसे कुछ ध्यान नहीं रहा। उसका ध्यान तब टूटा जब असिस्टेंट लायब्रेरियन आकर उसके कान के पास फुसफुसाया कि डी० ई० अचानक सरप्राइज़ विज़िट पर आए हैं और इस समय प्रिंसिपल के चैम्बर में कालेज के 'स्टाफ' के साथ उसकी मीटिंग चल रही है। वह पत्रिका रखकर खड़ा हो गया और बंद खिड़की के शीशों से प्रिंसिपल के चैम्बर की ओर देखने लगा। उसने देखा कि कालेज कैम्पस के भिन्न-भिन्न कोनों, कमरों और ब्लॉकों से निकल कर विविध विषयों के अध्यापक एक-एक दो-दो करके प्रिंसिपल के चैम्बर में घुस रहे हैं। उसने सोचा कि उसे भी वहां जाना चाहिए। मगर वह कैसे वहां जा सकता है ? प्रिंसिपल उसके साथ, बात करना तो दूर, नज़रें तक नहीं मिलाता है। नहीं, वह वहां जाकर अपनी बेइज़्ज़ती नहीं कराएगा। तभी उसने देखा कि उसके तीन साथी, जो शायद फिज़िकल डायरेक्टर के कमरे में ताश खेल रहे थे, दौड़ते-हांफते प्रिंसिपल के चैम्बर के भीतर चले गये। वहां न जाने का उसका संकल्प अब कुछ डगमगाने लगा। इन सारे अध्यापकों, स्टाफ के मेम्बरों में सिर्फ उसी का अलग रहना, बाहर रहना क्या उसके अपने हित में रहेगा ? और फिर कमरा कालेज का है, प्रिंसिपल के घर का नहीं। और उसे प्रिंसिपल के सामने नहीं, डी० ई० के सामने जाना है।

चैम्बर में घुसते ही उसने पहले डी० ई० और फिर प्रिंसिपल का अभिवादन किया। डी० ई० ने शायद उसे नहीं देखा। प्रिंसिपल ने अपने सिर को थोड़ा सा हिलाकर उसके

अभिवादन को स्वीकार किया। उसके प्रविष्ट होते ही चैम्बर में अव्यक्त सनसनी की एक खामोश लहर सी दौड़ गई थी। कुछ लोगों के चेहरों पर दुष्ट मुस्कुराहट उभर आई थी। कुछ लोगों ने उसे देखकर प्रिंसिपल की ओर देखा, पर प्रिंसिपल के मुख पर कोई प्रतिक्रिया न देखकर उन्हें थोड़ी सी निराशा हुई। कहीं कोई कुर्सी या सोफा खाली नहीं था। वह कुछ क्षण किंकर्तव्यविमूढ़ सा खड़ा रहा। तब दरवाज़े के पास लगे सोफे पर बैठे उसके एक सहयोगी ने थोड़ा सा सरक कर उसके लिए जगह बना दी और आंख टीप कर प्रिंसिपल की बगल में बैठे एक अन्य अध्यापक को कोई इशारा किया। डी० ई० चश्मा लगाकर कोई कागज देख रहा था। थोड़ी देर बाद उसने कागज़ से नज़रें हटाकर चश्मा नीचे रखा और अपने सामने बैठे लोगों की ओर देखा। तब उसकी नज़र इकबाल पर भी पड़ी और वह जैसे उछल पड़ा—“अरे ! आप भी इसी कालेज में हैं ?”

“येस सर।” इकबाल ने पूरे अदब के साथ हामी भरी।

“हाउ इज़ योर फादर ? हाउ इज़ योर मामा जी ?” डी० ई० ने उससे पूछा।

“जी, सब खैरियत से हैं।” कहने को तो इकबाल ने कह दिया पर भीतर ही भीतर वह बहुत परेशान हो गया कि डी० ई० की इस आत्मीयता का कारण क्या हो सकता है ?

“प्रिंसिपल साहब, आप शायद नहीं जानते हैं, यह हमारा अपना लड़का है।”

डी० ई० की बात के उत्तर में प्रिंसिपल ने कहा—“सो तो हम नहीं जानते हैं, सर। पर इतना ज़रूर जानते हैं कि मिस्टर इकबाल एक ब्रिलियेंट और टैलेंटिड यंगमैन है।”

वह और भी चकरा गया। आखिर माजरा क्या है ? आज यह सब क्या घट रहा है ? प्रिंसिपल की बात सुनकर उसके अनेक सहयोगियों के होठों पर उभर आई मुस्कराहट फिर लुप्त हो गई। लेकिन चन्द एक जो अधिक चतुर और बुद्धिमान थे, जो उससे, प्रिंसिपल से और उन दो के परस्पर रिश्ते से अच्छी तरह परिचित थे, अधिक उत्सुक होकर शांति का आवरण फाड़ कर किसी भी क्षण तूफान के प्रकट होने की प्रतीक्षा करने लगे।

प्रिंसिपल के मुख से उसके लिए सराहना के शब्द सुनकर डी० ई० इकबाल की ओर मुस्करा कर देखने लगा। वैसे ही जैसे कोई आदमी नये खरीदे टी० वी०, फ्रिज या फर्नीचर की दूसरों से प्रशंसा सुनकर खुश होता है। मगर अचानक उसकी मुस्कराहट की चमक कुछ मंद पड़ गई। उसने चश्मा लगाकर और फिर चश्मा हटाकर इकबाल को गौर से देखा। मन के किसी कोने में एक हल्की सी शंका ने सिर उठाया जिसने धीरे-धीरे गलती के एक तीव्र एहसास का रूप ले लिया। ठीक है, इस नौजवान की सूरत हाउसिंग मिनिस्टर के भानजे से हू-ब-हू मिलती है। पर वह तो बॉटनी का लेक्चरर है और यहां इस कालेज में मेडिकल सब्जेक्ट्स बिल्कुल ही नहीं पढाए जाते हैं। डायरेक्टर ऑव एजुकेशन होते हुए भी उससे ऐसी गलती कैसे हुई ? एक मिथ्याभास के आगे उसने 'एस्टैब्लिश्ड' और निश्चित तथ्यों की अवहेलना क्यों की ? पर अब बिगड़ी बात को सम्भालने, भ्रम को कायम रखने के अतिरिक्त और कोई चारा भी नहीं था। उसने चश्मा नीचे रखा और अपनी मुस्कराहट में फिर चमक लाते हुए प्रिंसिपल से कहा—“प्रिंसिपल साहब, इसका ख्याल रखिएगा।”

"आप भी क्या बात करते हैं, सर। इस कालेज के स्टाफ में 'यंग ब्लड' की ही 'मैजॉरिटी' है और इस बात को मैं अपने लिए और इस कालेज के लिए गर्व की ही बात मानता हूं।" प्रिंसिपल ने दांत निपोरते हुए कहा, और फिर इस बात की कि आने वाला युग ही नहीं, आज का ज़माना भी नयी पीढ़ी का है, उसने विस्तृत सैद्धांतिक चर्चा की, जम्हाइयां लेने के बावजूद डी० ई० और अन्य उपस्थित लोगों ने सिर हिला-हिला कर उसका अनुमोदन किया। फिर डी० ई० ने प्रिंसिपल की बात को आगे बढ़ाते हुए या आगे बढ़ाकर उलटी दिशा में मोड़ते हुए नौजवान अध्यापकों को उनकी जिम्मेदारी का एहसास दिलाया। उनमें फैली उत्तरदायित्व-हीनता की प्रवृत्ति की भर्त्सना की जिससे शिक्षा संस्थाओं में अनुशासनहीनता और शिक्षा के स्तर में गिरावट आ रही है। सभी ने ध्यान से डी० ई० की बातें सुनी और अनुमोदन में बार-बार सिर हिलाया। कोई एक घण्टे के बाद मीटिंग विसर्जित हुई और चैम्बर में केवल प्रिंसिपल, डी० ई०, स्टाफ सैक्रेटरी, प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब रह गए।

चाय और नाश्ता आ गया और कालेज प्रशासन से सम्बधित अनेक महत्वपूर्ण और ज्वलंत समस्याओं पर विचार विनिमय होता रहा। चाय पीने के बाद प्रिंसिपल और डी० ई० उठकर साथ वाले रिटायरिंग रूम में चले गये और लगभग आधे घण्टे के बाद बाहर आये। कुछ देर चैम्बर में बैठने के बाद डी० ई० ने प्रिंसिपल, स्टाफ सेक्रेटरी, प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब से विदा ली और वे चारों उन्हें उनकी कार तक छोड़ आये। कार के कालेज-गेट से बाहर जाने पर प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब प्रिंसिपल के साथ वापस उसके चैम्बर में आ गये। स्टाफ सेक्रेटरी, स्टाफ मेम्बरों को डी० ई० के साथ हुई गुप्त बातचीत का ब्योरा देने के लिए स्टाफ-रूम की ओर चला गया।

●

इकबाल भी स्टाफ-रूम में बैठा डी० ई० के साथ स्टाफ सेक्रेटरी की कालेज टीचरों की कठिनाइयों के विषय में हुई बातचीत का ब्योरा सुन रहा था कि उसे प्रिंसिपल का बुलावा आया। वह शंकित कदमों से स्टाफ-रूम से निकल कर प्रिंसिपल के कमरे में दाखिल हुआ।

"आपने मुझे बुलाया है?" इकबाल ने कुछ देर तक प्रिंसिपल की मेज़ के सामने चुपचाप खड़े रहने के बाद पूछा।

"येस।" प्रिंसिपल ने बिना उसकी ओर देखे हुए कहा।

वह सामने की कुर्सी पर बैठ गया और प्रिंसिपल की ओर एकटक देखते हुए उसके आदेश की प्रतीक्षा करता रहा। प्रिंसिपल भी बिना कुछ बोले उसे घूरने लगा। दोनों ने मानो एक दूसरे के आगे चैलेंज रख दिया था कि देखें पहले किसका धैर्य छूट जाता है? कौन पहले बोलता है? स्थिति काफी गम्भीर थी और इसका अंदाज़ा उन दो की मुखमुद्रा से अधिक प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब के कसे चेहरों और भिंचे होठों से लगाया जा सकता था। पल-पल बीतने के साथ-साथ चैम्बर में आयी खामोशी घनी और चारों के लिए असह्य होती गई। चारों छाती पर इस बोझ को सम्भाले हुए भीतर ही भीतर छटपटा रहे थे। लेकिन

बोलने की पहल प्रिंसिपल ने ही की। कठोर मुख-मुद्रा धारण करके उसने कड़कती आवाज़ में इकबाल से कहा—"अ ई डोंट लाइक 'योर वेज'। मुझे तुम्हारा तौर-तरीका बिल्कुल पसंद नहीं है।"

इकबाल ने कुछ नहीं कहा। कुछ क्षण वैसे ही प्रिंसिपल की ओर एकटक देखता रहा और फिर शांत भाव से उठकर धीरे-धीरे कमरे के बाहर जाने लगा। यह देखकर प्रोफेसर रैना का संयम छूट गया। वह झटके से उठा और बाहर जाते इकबाल की ओर उंगली से इशारा करके चीखने लगा—"यही, बस यही है वह तरीका। डी० ई० साहब बक नहीं रहे थे, सच कह रहे रहे थे कि नये लौंडे सारे अकैडेमिक फील्ड को खराब कर रहे हैं।"

इकबाल रुक गया। उसने आंखें तरेर कर रैना की ओर देखा। उसके तेवर देखकर रैना ने और ज़्यादा चीखना मुनासिब नहीं समझा पर मुश्ताक ने टूटे सूत्र को थामकर बात आगे बढ़ाई। "देखो मेरे दोस्त!" उसने कड़े पर संयत स्वर में कहा—"प्रिंसिपल हमारा आॅफिसर है। वह अगर हमारी गलती की तरफ इशारा करे तो हमें अपनी गलती मान लेनी चाहिए या फिर अपनी सफाई पेश करनी चाहिए। यह कोई तरीका नहीं कि आॅफिसर ने कुछ कहा और आप ने नाराज़ होकर वाक-आउट किया। यह सरासर बदतमीज़ी है।"

"अगर मैं प्रिंसिपल होता तो इसे इसी बात पर सस्पेंड करता।" प्रोफेसर रैना ने बिना इकबाल की ओर देखे कहा।

"मैं सस्पेंड या डिसमिस करना नहीं जानता। मैं खाल खींचना जानता हूं।" प्रिंसिपल ने लहजे के कड़ेपन को कायम रखते हुए कहा— "मैं अपना जूता निकाल कर इसे सीधा कर सकता हूं। मुझे इसके ऊपर पूरा-पूरा अधिकार है।"

अंतिम वाक्य सुनकर इकबाल भौंचक्का रह गया। उसने वह प्रतिक्रिया नहीं दिखाई जिसके लिए उसने अपने आप को तैयार किया हुआ था।

"तुम छः महीने तक मुझसे रूठे रहे। क्यों? क्या तुम अपने पिता जी या मामा जी से भी इसी तरह रूठे रहते? इन छः महीनों में तुम ने एक बार भी नहीं पूछा कि मैं तुम्हारे कागजों पर दस्तखत क्यों नहीं करता हूं? मैं भी इनसान हूं। मेरे भी सेंटिमेंट्स हैं। अफसोस है कि तुम ने इनकी कद्र नहीं की।"

प्रिंसिपल के लहज़े की आर्द्रता में, गले के कम्पन में, होठों की थरथराहट में, आंखों की तरल चमक में क्रोध और करुणा के भाव प्रकट और विलीन हो रहे थे। वह कह रहा था—"और नुक्सान किसका हुआ? तुम्हारा अपना, मेरा नहीं। मगर मेरे बच्चे का नुक्सान भी मेरा ही नुक्सान है। छः महीने तक तुम्हारी इंक्रीमेंट बंद रही और तुम चुप रहे। हैरानी है। और तुम अपने को अक्लमंद कहते हो। तुम से ज्यादा अक्ल टिंकू के पास है।"

प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब की ओर मुस्करा कर देखते हुए प्रिंसिपल ने अपनी बात जारी रखी—"मैं आपसे कहना भूल गया। कल टिंकू की मां ने केक बनाया। बन जाने पर जब उसने एक पीस प्लेट में टिंकू के आगे रखा तो साहबज़ादे रूठ गये। कहने लगे हम पीस नहीं, पूरा केक लेंगे। पर हम भी डटे रहे। हमने कहा रूठा है तो रूठने दो। साहबज़ादे ने जब देखा कि कोई उनकी जिद के आगे झुकता नहीं है तो चुपके से उठे और प्लेट में पड़ा केकपीस चुपचाप खाने लगे।"

प्रिंसिपल, प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगे। प्रिंसिपल ने हंसते-हंसते इकबाल की ओर इशारा किया और कहा—"उसकी जगह अगर यह साहब होते तो बस रूठे ही रहते। न पूरा केक खाते, न प्लेट में पड़ा टुकड़ा खाते - सिर्फ मां से मार खाते।"

मुश्ताक साहब ने अपनी हंसी रोक कर प्रोफेसर रैना से कहा—"प्रिंसिपल साहब ने बिल्कुल सही फरमाया। इकबाल साहब अगर बुरा न मानें तो मैं भी साफ-साफ कहूंगा कि इनके पास इल्म है - अक्ल नहीं।"

"इल्म को लेकर कौन चाटता है?" प्रोफेसर रैना ने अजीब सा मुंह बनाकर कहा—"आदमी के पास अक्ल होनी चाहिए। यदि वह ज़रा भी होती तो अपने सब्जेक्ट में इतना ब्रिलियंट आदमी पोस्ट ग्रेजुएट डिपार्टमेंट में रीडर होता, इस अंडर ग्रेजुएट कालेज में मामूली लेक्चरर नहीं।"

इकबाल सचमुच बे-अक्ल, बेवकूफ और बुद्धू सा बना बारी-बारी तीनों की ओर देख रहा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे? क्या करे? उसकी खुशकिस्मती से प्रिंसिपल ने खुद ही उसकी मुश्किल आसान करते हुए कहा—"तुम जा सकते हो। मैंने सुपरिंटेंडेंट से कहा है कि वह आज दिन में ही तुम्हारी इंक्रीमेंट का केस 'कम्प्लीट' करके सैंकशन के लिए भिजवाए।"

●

चैम्बर से बाहर आकर इकबाल आजकी, या यों कहें पिछले कुछ घण्टों की घटनाओं पर विचार करने लगा। यह सब क्या हुआ और कैसे हुआ? डी० ई० की आत्मीयता और प्रिंसिपल की कृपा के पीछे क्या रहस्य है? दोनों को ज़ोर देकर उसके पिता और मामा का ज़िक्र करने की क्या ज़रूरत थी? उसके पिता ने उसे कभी नहीं बताया कि उसकी प्रिंसिपल या डी० ई० के साथ कोई जान-पहचान है। होती तो बताते और मामा? उसका तो कोई मामा है ही नहीं। उसके नाना की सिर्फ दो लड़कियां थीं। इकबाल इस पहेली को सुलझाने की जितनी कोशिश करता, उतनी उसकी उलझन बढ़ने लगी और तभी आफिस में मिला पत्र और उस पर लिखी इबारत उसके दिमाग में सहसा कौंध गई। 'जय माता की'—ये अक्षर रद्दी की टोकरी में पड़े बिखरे कागज़ के तिनकों से, कयामत के रोज़ कब्रों से उठ खड़े होने वाले मुर्दों की तरह अचानक उभर कर उसके आगे नाचने लगे। 'पत्र प्राप्त होते ही तुम्हारे भाग्य का उदय होगा और रुके हुए कार्य सफलता की ओर अग्रसर होंगे।' पर यह बात, या यों कहें इस बात से जुड़ी दूसरी बात याद आते ही उसका दिल बैठ गया। एक ठिठुरते भय से उसका रक्त जम गया और हड्डियां अकड़ गईं। उसे ताकीद की गई थी कि वह इस पत्र की सात प्रतियां बनाकर अपने सात मित्रों तक माता का सदेश पहुंचाए। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उसका सर्वनाश हो जायेगा। पर उसने पत्र की सात प्रतियां नहीं, सात टुकड़े किए थे। भय शनैः-शनैः घना होता गया। तब उसके मस्तिष्क से और सब कुछ— कालेज, प्रिंसिपल, डी० ई०, इंक्रीमेंट, पिता, मामा— उतर गया। वहां केवल यह चेतावनी कि यदि उसने आदेश का पालन नहीं किया तो उसका सर्वनाश हो जायेगा, पल-पल बीतने के साथ और भारी होकर हथौड़े की चोट करने लगी थी।

—

आपकी बात

★

नयी कलम विशेषांक (अंक ५५)

★ मेरा विश्वास है कि शीराज़ा के बहाने सामने आने वाली नयी कलमों में रेणु मंगोत्रा, सजना कौल, डॉ० सोमनाथ कौल, प्रकाश प्रेमी, बंसीलाल कुचरू, शक्ति शर्मा, मुहम्मद परवेज़ जैसे नाम आने वाले दिनों में भी कलम के जौहर दिखाएगे।

—डॉ० बालेन्दु शेखर तिवारी
हिन्दी विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची—८३४००८

★ इस विशेषांक में नई पीढ़ी के अनेक साहित्यकारों की प्रतिनिधि रचनाएं हैं, जो उनकी सम्भावनाओं को परिपुष्ट करती हैं। कई भविष्णु रचनाकारों को एक साथ प्रकाश में लाने का आपका यह प्रयास प्रशंसनीय है।

—डॉ० कुमार विमल, अध्यक्ष, बिहार लोक सेवा आयोग, पटना

★ नयी कलम विशेषांक मुझे कुछ उन महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं की याद दिलाता है जिन्होंने नये लेखकों को न सिर्फ प्रोत्साहित किया बल्कि उनके लेखन की पहचान का एक क्रम स्थापित कर उन्हें अच्छे लेखकों की पक्ति में ला बिठाया। मुझे खासकर संजना कौल, क्षेमलता वखलू, शबीर अयाज और शक्ति शर्मा की कहानियां अच्छी लगी हैं। कविताओं में सोमनाथ कौल, राजऋषि शर्मा की कविताएं खासतौर पर अच्छी लगी हैं। नये लेखकों के प्रति आपके रुझान को देखकर दूसरे सम्पादकों से भी यह कहने का मन होता है कि नयी प्रतिभाओं की तलाश करें।

—डॉ० गगा प्रसाद विमल, २६/५३, रामजस रोड, करौल बाग, नयी दिल्ली

★ भीतरी सन्नाटा, तृष्णा उत्पीड़न, काके दी बारात और शिकवा कहानियों ने बेहद प्रभावित किया। 'अपनी बात' अपने आप में काफी विचारोत्तेजक है। बधाई।

—बंसी लाल कुचरू, चौक बाज़ार, बारामुल्ला, (कश्मीर)

★ रेणु मंगोत्रा का विशेष लेख कुछ भी 'विशेष' नहीं लिए था। उनका निष्कर्ष तो सभी पाठकों को उपन्यास पढ़ कर ज्ञात हो ही जाता है। कहानियों में भीतरी सन्नाटा, मछलियां, शिकवा, अपनी अपनी टूटन ध्यान आकर्षित करती हैं। कविताओं की जितनी भरमार है, अच्छी कविताएं उतनी ही कम। केवल गुल हजारा तथा बादलों का प्यार—दो ही कविताए मुझे आकर्षित कर सकीं।

—डॉ० आदर्श, मेडीकल ऑफिसर, जिब, उधमपुर

★ शीराज़ा ५६ में प्रकाशित लेख, 'बगला कहानी की विकास यात्रा', अद्वितीय है। पथिक का रिपोर्ताज—'सड़क आ रही है' अच्छा लगा। आदर्श की कविता और प्रियतम चन्द्र का लेख—दोनों ही पठनीय हैं। यह अंक मेरे लिए संग्रहणीय अंक है···यह अंक उस शेल्फ मे जा रहा है जहां कुछेक भारतीय पत्रिकाओं को ही स्थान मिल पाया है। 'चेरी के फूल' के समीक्षक की गहन और आलोचनात्मक दृष्टि के प्रति मेरा आभार।

—प्रो० अशोक जेरथ, १८१, मस्तगढ़, जम्मू